भी नहीं है। जिस व्यक्ति में, साधर्मी भाइयों के प्रति करुणा नहीं, वात्सल्य नहीं, कोई विनय नहीं वह मात्र सम्यग्दृष्टि होने का दम्म कर सकता है, सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकता। आज अनीति के माध्यम से कई लोग मृत्यु के शिकार बनते चले जा रहे हैं। "हार्ट-अटेक" क्यों होता है? इसीलिए तो, कि अन्दर डर रहता है और ऊपर से शासन के करों का/टैक्सों का अपहरण करते हैं। लेकिन **यह भगवान् महावीर का दरबार है। इसमें अनीति-अन्याय के लिए कोई स्थान नहीं मिलता। यहाँ तो नीति-न्याय के अनुसार, सादगीमय जीवन से काम लेना होगा।**

सदासुखदास जी के बारे में मुझे पंक्तियां याद आ रही हैं। सदासुखदास जी जयपुर में रहते थे। किसी शासनाधीन विभाग में कार्य करते थे वहाँ। वर्षों काम करते रहे। एक बार सभी लोगों ने हड़ताल कर दी कि हमारे वेतन का विकास होना चाहिए। मांग पूरी भी कर दी गई। लेकिन सदासुखदास जी ने मांग ही नहीं की थी, तो मांग के अनुसार जब इनके पास ज्यादा वेतन आया तब उन्होंने कहा- ज्यादा क्यों दे दिया, कोई भूल तो नहीं हो गई? इतने ही हमारे होते हैं? इतने आपके हैं।

.....नहीं, नहीं, सभी के वेतन में वृद्धि हो गई है। तब सदासुखदास जी ने कहा- सबके लिए हो सकती है लेकिन मुझे आवश्यकता नहीं। क्यों, क्या बात हो गई? सभी ने लिया है तो आपको भी लेना चाहिए। उन्होंने कहा- मालिक को बता देना, मैं आठ घण्टे की ड्यूटी कर उतना ही काम कर रहा हूँ, कोई १६ घण्टे तो नहीं करने लग गया। जितना काम करता हूँ, उतना वेतन लेता हूँ। अत: उनसे कह दीजिए कि मुझे ज्यादा नहीं चाहिए। मालिक कहता है- ऐसा कौन-सा व्यक्ति है जो हड़ताल में शमिल नहीं हुआ। जाकर मेरा नाम कह देना तो वह ले लेगा। सेवक ने कहा- भैय्या ले लीजिए, मालिक ने कहा है। नहीं, मैं नहीं ले सकता। अब मालिक ने उन्हें ही बुलाया और कहा-मेरे कहने से ले लो। तब भी सदासुखदास जी ने कहा- मुझे नहीं चाहिए। फिर क्या चाहते हैं आप? मालिक ने पूछा। "मुझे यही चाहिए कि अब शेष जीवन का अधिक से अधिक समय जिनवाणी की सेवा में लगा सकूँ। अत: मुझे आठ घण्टे की जगह चार घण्टे का काम रहे और वेतन भी आधा कर दिया जाय।" इसको बोलते हैं मुमुक्षु और उसकी जिनवाणी के प्रति साधना-सेवा। जैसा नाम था, वैसा ही काम "सदासुख"। उन्होंने कहा-

हम धन्य हैं। हमारे राज्य में इस प्रकार के व्यक्ति का रहना, बहुत ही शोभास्पद है। सदासुखदास जी का जीवन कितना सादगीपूर्ण था। एक बार टीकमचन्द भागचन्द जी सोनी (जिन्होंने अजमेर के अन्दर नसिया जी का निर्माण कराया) के पास उनके द्वारा लिखे हुए पत्र मैंने स्वयं अपनी आंखों से पढ़े हैं। जब टीकमचन्द जी अपने परिवार सहित सम्मेदशिखर जी की यात्रा के लिए जाने वाले थे, उस समय सदासुखदास जी जयपुर में रहते थे, अत: कहा गया कि आपको भी सम्मेदशिखर जी की यात्रा के लिए साथ चलने के लिए आना है। मैं सारा प्रबन्ध कर लूँगा, आपको कोई चिन्ता नहीं करना है। सारी चिन्ताएं छोड़कर चलना है। लेकिन जवाब में पण्डितजी ने लिखा- मैं नहीं आ सकता हूँ क्योंकि मैंने देशावकाशिक व्रत ले लिया है, इससे हम सीमा को छोड़कर नहीं जायेंगे। साथ ही, मैं सल्लेखना के लिए भी प्रयास कर रहा हूँ, इसीलिए मैंने ड्यूटी भी कम कर दी है। अब मुझे आत्मकल्याण करना है। अब तो-

अन्त: क्रियाधिकरणं, तप:फलं सकलदर्शिन: स्तुवते।
तस्माद् यावद् विभवं, समाधिकरणे प्रयतितव्यम्॥

समाधिमरण प्राप्त करने के लिए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा-यदि वृद्धावस्था आ रही है तो जल्दी-जल्दी कीजिए, जब तक वैभव अर्थात् शक्ति है शरीर में, तब तक इस ओर सारी शक्ति लगा दीजिए अब, जिससे यह जीवन शान्त-निराकुलतामय बन जाए और आगे भी शान्ति का लाभ हो सके।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी के रत्नकरण्डक श्रावकाचार पर जो कि मूलत: श्रावकों के लिए लिखा गया है, सदासुखदास जी ने टीका की, उसे आज भी आबाल-वृद्ध सभी पढ़ते हैं। मैं तो रत्नकरण्डक को रत्नत्रयस्तुति ग्रन्थ मानता हूँ। उसमें रत्नत्रय की स्तुति के माध्यम से सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की उपासना करता हुआ व्यक्ति, अन्त में सल्लेखना लेकर के बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह क्या? वह तो बहुत दूर की बात होगी, अब तो थोड़ा-सा भी परिग्रह शनि के रूप में मानकर दूर फेंक देगा। उनकी कृतियाँ आज भी धरोहर हैं। हम उनका मूल्यांकन करने चलते हैं, तो पाते हैं कि कितना अपार अनुभवमय जीवन था उनका। कितनी सादगी थी। मुनि बन जाते तो, कितना उपकार कर जाते, पता नहीं। भजनों में लिखते हैं कि "वे मुनिवर कब मिल हैं उपकारी" यानि उनके जीवन में ऐसे मुनिमहाराजों के दर्शन भी सुलभ नहीं थे। लेकिन

आज उनके भजन से ऐसा लगता है कि वे भी मुनिराजों से कम नही थे। उनके भीतर-मन में मरण से किंचित् भी डर नहीं था। वे मरण के ऊपर महोत्सव मनाने में लगे रहे। अन्तिम समाधि, सदासुखदास जी की कैसी हुई, मालूम है? उन्होंने पहले से तिथि लिख दी, कि फला तारीख को इस समय, इस प्रकार की घटना होने वाली है। मैं कुछ भी नहीं कर सकूँगा। वही घटना, वही तिथि और वही समय। भगचन्द सोनी की आंखों में पानी आ रहा था सुनाते-सुनाते, कि इस प्रकार का उच्च आदर्शमय जीवन था सदासुखदास जी का। उन पत्रों को उन्हीं ने बताया था, जो कि एकत्रित कर रखे हैं।

एक जीवन ऊपर कहा जा चुका और एक आज का जीवन है। आज यद्वा-तद्वा आचरण कर असमय में ही मृत्यु की गोद में पहुँच रहे हैं लोग। इस आयुकर्म को अच्छी तरह से रखना है। जीवन में डर नहीं होना चाहिए,। लोभ नहीं होना चाहिए।

"क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुदीचिभाषणं च पंच"

जिसके जीवन में क्रोध है वह सत्य का उद्घाटन नहीं कर सकता। जो व्यक्ति पाई-पाई के लिए लोभी बन रहा है वह जिनवाणी का, सत्य का प्रचार-प्रसार नहीं कर सकता। भीरुत्व, ये क्या कहेंगे? क्या पता, इसलिए पलट दो। आज कुछ, कल कुछ। अभी कुछ, रात को कुछ और सुबह कुछ। मन में कुछ, लिखना कुछ और कहना कुछ और ही। यह कुछ का कुछ, क्यों होता है? यह भीतरी दृढ़ता नहीं होने के कारण होता है। आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र स्वामी आदि के उपासक जैनियों को आज क्या हो गया? उनके साहित्य को लेकर के हम क्या कर रहे हैं? जिनवाणी मां के ऊपर आज कीमत लिखी जा रही है। भगवान् के ऊपर भी कहीं कीमत लिखी क्या? नहीं लिखी। गुरुओं के ऊपर कीमत है क्या? नहीं है। फिर जिनवाणी के ऊपर कैसे-क्यों लिखी जाती है, जा रही है? जिनवाणी का भी क्या कोई मूल्य है? आज ५० साल भी नहीं हुए, गुजरात में श्रीमद् रायचन्द जी हुए जिन्होंने अगास में आश्रम खोला है। उन्होंने कहा था- जिनवाणी का कोई मूल्य नहीं होता है। अनमोल वस्तु है जिनवाणी, इसके लिए जितना भी देना पड़े कम है। वह जवाहरात की थाली लिए बैठे थे, जो भी व्यक्ति समयसार भेंट करता, उसको सारे जवाहरात दे देते थे। पर आज ५ रुपये, १० रुपये, २५ रुपये, होड़ लगी है। स्पर्धा हो रही है। क्या हो रहा है साहित्य का-जिनवाणी मां का। बिल्कुल गलत है यह तरीका, यह विधि। जैसा-तैसा

प्रकाशन करना, यद्वा-तद्वा प्रचार करना। शादियों में भी समयसार बांटा जा रहा है, जैसे कि पूड़ी बांटी जाती है। ऐसा नहीं होना चाहिए। यह अनमोल है। तब क्या प्रत्येक व्यक्ति इसको पढ़ सकता है? यद्वा-तद्वा ही पढ़ेगा। जिनवाणी की सेवा यही है कि जो सुपात्र है, उसको आप दीजिए। जो ककहरा भी नहीं जानता, उसके सामने जाकर के अपना साहित्य रद्दी में बेचा जा रहा है। हमने अपनी आंखों से देखा है कि बड़े-बड़े ग्रन्थों को बिस्तर में बांध दिया गया और कहाँ पर पटक दिया, यह आप भी जानते हैं। यह आज की स्थिति है। आज जैनियों को क्या हो गया, समझ में नहीं आता? यह सादगीपूर्ण जीवन के अभाव के कारण ही हो रहा है। अनाप-शनाप व्यवसाय करके वित्त आने से रात-दिन चैन नहीं। **आज विश्व में वित्त ज्यादा होने से विद् यानि ज्ञान का अवमूल्यन होता चला जा रहा है। उसी कारण से आज जिनवाणी के प्रति आदर नहीं है, सत्य की पहिचान नहीं है। पापों से भय नहीं है और सारी दुनिया भर में भय बढ़ता जा रहा है।**

मैं जयधवला का अध्ययन कर रहा था तब एक प्रसंग आया, कि जिस व्यक्ति को भयकर्म की उत्कृष्ट उदीरणा हो रही हो, उस व्यक्ति के पास नियम से मिथ्यात्व रहेगा। जिस व्यक्ति को विशेष रूप से लोभ रहेगा, बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह होगा, उनके नियम से मिथ्यात्व कर्म की उदीरणा होगी। लोभ के साथ दर्शनमोहनीय का विशेष सम्बन्ध है। धवला-जयधवला-महाबन्ध पढ़ने का प्रयास करिये, तब मालूम पड़ेगा कि हमारे परिणाम कब कैसे होते हैं? उन परिणामों के साथ कौन-सा परिणाम होना आवश्यक है? लोभ का यद्यपि चारित्रमोहनीय से सम्बन्ध है। लेकिन वह कहते हैं कि जब अति लोभ होगा, तब मिथ्यात्व कर्म की उदीरणा हुए बिना नहीं रहेगी। इसलिए आप यदि स्वयं को तथा दूसरों को- दुनिया को सम्यग्दर्शन से सहित देखना चाहते हैं तो सर्वप्रथम बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह छोड़ दीजिये। वैसे स्वाध्याय ज्यादा आवश्यक नहीं जितना आरम्भ-परिग्रह का त्याग। बहुत से आचार्यों ने स्वाध्याय के लिए जोर दिया पर ध्यान रखिये वह मुनियों को भी आवश्यक रूप में नहीं है। स्वाध्याय २८ मूलगुणों में नहीं है। स्वाध्याय को तप के अन्तर्गत गिना गया है। आज केवल स्वाध्याय का, स्वाध्याय के द्वारा अनेक प्रकार की भीतरी वासनाओं को पूर्ण करने के लिए प्रचार-प्रसार किया जा रहा है जो कि बिल्कुल आगम विरुद्ध है। श्रावकों को भी आवश्यक नहीं

बताया गया स्वाध्याय। ना धवला में, ना जयधवला में, ना महाबन्ध में, ना रत्नकरण्डकादि श्रावकाचारों में, आवश्यक बताया है। फिर यह प्रवाह कैसे आ गया? मुझे मालूम नहीं। लेकिन इसके उपरान्त भी कह सकता हूँ कि मान लीजिए, श्रावकों के षट्कर्मों में लिखा गया, तो पहले यह ध्यान रखिये कि षट्कर्म किसके होते हैं। आचार्यों ने कहा है- अहिंसा आदि व्रत, चाहे अणुव्रत हो या महाव्रत, उसकी सुरक्षा के लिए, उन श्रावकों-मुनियों के लिए जीवन में छह आवश्यक कर्म बताये गये हैं। जैसे खेती की रक्षा बाड़ी के माध्यम से होती है उसी प्रकार आवश्यकों को जानना।

अब केवल स्वाध्याय-स्वाध्याय को करने-कहने की बजाय अपने जीवन से तामसी प्रवृतियों को कम करो, सत्य रखो, समता रखो, वात्सल्य रखो, प्रेम रखो और जीवन के प्रति गौरव रखो। हमारी कौन-सी संस्कृति है, इस बात का ध्यान रखो। हम जैन हैं। जैन होने के नाते अपनी वृत्तियों को संयमित रखो।

जैन कहते ही पहले अदालतों से छुट्टी मिल जाती थी। लेकिन आज जैन कहने की हिम्मत नहीं हो रही है। अखबारों में छपे समाचारों को देखकर बहुत ही दुख होता है कि आखिर हम भी तो उसी कोटि में माने जायेंगे/आ जायेंगे। वैसे साधु किसी संप्रदाय के नहीं होते, साधु तो विश्व का होता है। फिर भी हमारे साथ "जिन" एक ऐसा शब्द लगा है, वह उस भगवान् को इंगित करता है, जो राग-द्वेष नहीं करते, विषय-कषाय से रहित होते हैं, आरम्भ-परिग्रह से रहित होते हैं, ऐसे जिन भगवान् हुआ करते हैं। जिन भगवान् की उपासना करने वाले जैन माने जाते हैं, तब जैन का कार्य भी इन जैसा होना चाहिए। उनके कदमों पर चलना चाहिए, चलने की स्पर्धा होनी चाहिए, होड़ होनी चाहिए, जबकि आज हम विपरीत दिशा में जाकर अपने को जैन सिद्ध करना चाहें तो दुनिया बावली नहीं, भोली नहीं, अंधी नहीं, आंखें लगाकर देखती है। आजकल आंखें तो क्या, आंखों के ऊपर आंखें (सूक्ष्मदर्शी इत्यादि) लगाई जा रही है। आंखें (निगाहें) रखी जा रही हैं। कौन क्या-क्या कर रहा है, कौन क्या बोल रहा है, कौन-कैसा पलट रहा है कैसा उलट रहा है? कोई भी उसकी निगाहों से बच नहीं सकता।

सदासुखदास जी के जीवन से हमें ज्ञात होता है कि जीवन बहुत सादगी पूर्ण होना चाहिए। यह बुन्देलखण्ड है और मैं मानता हूँ कि यहाँ पर अभी यह हवा नहीं है या नहीं के बराबर है लेकिन आने में देर नहीं। कहीं चक्रवात आ

जाये तो इसे भी अपने चक्कर में ना ले ले, बस यही मैं चाहता हूँ, कामना करता हूँ। इसको शुद्ध रखने की अधिक से अधिक कोशिश की जाए। **हम भले ही शुद्ध-शुद्ध की चर्चा करते जाएँ कि आत्मा शुद्ध है, हम शुद्धाम्नाय वाले हैं किन्तु भगवान कहते हैं कि जिसका आचरण शुद्ध है उसकी आम्नाय शुद्ध है, जिसका आचरण शुद्ध नहीं, उसकी आम्नाय शुद्ध नहीं। आम्नाय (परम्परा) आचार और विचार की एकता से ही चलती है।** सही शुद्ध आम्नाय तो वही है जिसमें महान् चारित्रनिष्ठ आचार्य कुन्दकुन्ददेव हुए, समन्तभद्रस्वामी हुए और भी आचार्य हुए और हो रहे हैं। जिन्होंने श्रावकों के लिए, अल्पबुद्धिशालियों के लिए ग्रन्थ रचना की और जिनशासन की प्रभावना की, अपनी भावना के द्वारा। अन्त में अपने जीवन का कल्याण किया तथा हजारों-लाखों जीवों का कल्याण किया, उनका मार्ग प्रशस्त किया। अब आप वह मार्ग अक्षुण्ण बनाये रखें, यही हमारा निवेदन है।

बन्धुओं! नीति-न्याय को नहीं भूलिये। आज की पीढ़ी, जो कि २५ से ४० वर्ष के बीच की है, यह ऐसी पीढ़ी है कि जो सम्पन्न है, और उसमें करने की, कुछ पाने की सामर्थ्य है। साथ ही कुछ जिज्ञासाएं व संभावनाएं भी हैं। ऐसी पीढ़ी के सामने यदि आपने अपने अनीतिमय जीवन को रखा तो उनके जीवन को पाला लग जायेगा। "यदि आप करुणाकर, उनके भविष्यज्जीवन के बारे में करुणा करते हैं तो इस घृणित जीवन को आज से ही छोड़ दीजिए और संकल्प कीजिए कि अब हम अपने जीवन में अनीति को कोई स्थान नहीं देंगे।" तब समझा जाएगा कि प्रतिष्ठा-महोत्सव बहुत अच्छी बात है। अनीति से धनोपार्जन नहीं होना चाहिए और अनीति के द्रव्य का (धन का) दान नहीं देना चाहिए।

दान देने का अर्थ, यह नहीं है कि हम यद्वा-तद्वा दान दें। यदि एक व्यक्ति चोरी करके दान दें तो क्या उसका दान, दान कहलायेगा? नहीं! नहीं! यह तो पाप का ही कारण बन जाएगा। जो आरम्भ-परिग्रह किया था, उसके द्वारा पाप का ही आस्रव हुआ और पाप का ही उपभोग हुआ करता है। अतः इसको छोड़ दो।.... बिना देखे छोड़ दो। जिस प्रकार मल को छोड़ते हैं उसी प्रकार इसको भी छोड़ने के लिए कहा है, किन्तु आज तो यह नाटक जैसा होता जा रहा है। जबकि सभी बातें सारी-दुनिया जान रही है, इसलिए अब किसी भी प्रकार के साहित्य के माध्यम से प्रचार-प्रसार नहीं किया जा सकता।

आज तो हमारी नीति, हमारा न्याय, हमारा आचरण, हमारे विचार, हमारा

व्यवहार जो कि समाज के सामने है, उसे देखकर ही मूल्यांकन किया जाएगा। आज की पीढ़ी इस प्रकार से अन्धानुकरण कर चलने वाली नहीं है। अनीतिपूर्वक "गवर्मेन्ट" के "टेक्स" को डुबोकर, दान देना, दान नहीं माना जाता। आचार्य उमास्वामी जी ने कहा है-

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः

राज्यातिक्रम बहुत बड़ा दोष है और संभव है वह जैनियों के ऊपर कोई आपत्ति ला दे, इसीलिए सत्ता के विपरीत चलना धर्म नहीं, अधर्म माना जाएगा। **"जो सत्ता के विपरीत चलेगा, वह महावीर भगवान् के शासन को भी कलंकित करेगा, दूषित करेगा"**, बात यद्यपि कटु है, लेकिन कटु भी सत्य हुआ करता है। जैसे- मां को गुस्सा आ गया। क्यों आया? क्योंकि उसका लड़का उत्पथ-उन्मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है तो उसका सब कुछ कहना, करना आवश्यक हो जाता है। इसलिए आप समझिये कि **जब तक भीतर आत्मा के परिणाम उज्ज्वल नहीं होंगे, हमारा आचार-विचार उज्ज्वल नहीं रहेगा, तब तक हमारा सम्बन्ध महावीर भगवान् से नहीं होगा। कुन्दकुन्द के साथ नहीं होगा। समन्तभद्र के साथ नहीं होगा।** इतना ही क्या? आप लोग सुनते ही हैं कि जब पिताजी अवसान के निकट होते हैं, तब बेटा को बुलाते हैं। क्या आज्ञा है बाबूजी! तो पिता जी कहते है कि और कोई आज्ञा नहीं। बस यही, कि जब तक आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेगा तब तक ही मेरा बेटा है। देख! तेरे लिए ही सब कुछ किया- दुकान बना दी, मकान बना दिया। खेती-बाड़ी कर दी, सब कुछ तो कर दिया, अब कोई आवश्यकता नहीं, लेकिन यह ध्यान रखना कि इस परम्परा में दूषण न लगें। नहीं तो उसी दिन से हमारा-तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं। अब फर्म मेरी नहीं, तुम्हारी है। अतः फर्म की परम्परा देखकर काम करना। आप इन सब बातों को तो करने जल्दी कटिबद्ध हो जाते हैं। लेकिन धर्म के क्षेत्र में आप सोचते हैं कि ऐसा करने से कहीं हमारा जीवन ही न मिट जाये। लेकिन हमारा जीवन क्या वस्तुतः धार्मिक जीवन है और इस दृश्य को देखकर भगवान् महावीर क्या कहते होंगे, कुन्दकुन्द भगवान क्या कहते होंगे और समन्तभद्र महाराज क्या कहते होंगे? जरा सोचो, विचार तो करो?

हमारा साहित्य तो बहुत ही उज्ज्वल हैं। विश्व-भर में भी इस प्रकार का साहित्य नहीं मिल सकता, लेकिन हमारे इस आचरण को देखकर लोग व्यंग्य में कहते हैं कि क्या यह इस साहित्य की देन हैं। जो व्यक्ति इस प्रकार के साहित्य के साथ होने पर भी अनीति के साथ चलता है, झूठ बोलता है, चोरी

करता है, कुशील करता है, परिग्रह की होड़ लगाता है तो उसके मुख से जो शब्द निकलेगा वह विनाशकारी होगा, कार्यकारी शब्द तीन काल में भी संभव नहीं है।

धन्य हैं वे समन्तभद्र! धन्य हैं वे कुन्दकुन्द, जिन्होंने हमारे लिए मृत्यु की भ्रांति से दूर हटा दिया। मृत्यु क्या है? दिखा दिया। जन्म क्या है? सब कुछ बता दिया।

जीव अरु पुद्गल नाचै यामें कर्म उपाधि है।

अर्थात् जीव और पुद्गल कर्म ये दोनों मिलकर यहाँ पर नाच रहे हैं। यहां प्रत्येक व्यक्ति नट (नाच दिखाने वाले) हैं, तो फिर देखने वाला कौन है? सारे के सारे नट ही हैं। देखने वाला कोई नहीं। अतः खुद ही अपनी आत्मा को सजग-जागृत बनायें और हम अपने नाटक को देखें, सोचें, लेकिन इसमें टिकें नहीं, भटके नहीं। हम भटकते चले जा रहे हैं। राग-द्वेष-मोह-माया-मत्सर इत्यादि का स्वरूप समझें और इनको तिलांजलि दे दें। अपने एकमात्र शुद्धस्वरूप का, निरंजनस्वरूप अखण्डज्ञान का चिन्तन करें। कितना आनन्द, शक्ति और वैभव पड़ा है हमारे पास। एक महान् सेठ होकर भी संसारी-प्राणी अज्ञान और कषाय के वशीभूत होकर भिखारी के समान दर-दर, एक-एक दाने के लिये मुहताज हो रहा है। भगवान् कुन्दकुन्द को हमारे ऐसे जीवन पर दया, करुणा आती है, रोना आता है कि कैसे समझायें? मां का रोना स्वाभाविक है, क्योंकि आखिर उसकी वह संतान उसके जीवन के ऊपर ही तो निर्धारित है। मैं उसको दिशा-बोध नहीं दूँगी तो कौन देगा? -इस प्रकार वह सोचती रहती है, विचार करती रहती है।

बन्धुओं! अनीति के व्यसन से बचिये! वित्त की होड़ को छोड़ दीजिए और वीतरागता प्राप्त करने का एक बार प्रयत्न कीजिए। **जीवन में एक घड़ी भी वीतरागता के साथ जीना बहुत मायना रखता है और हजारों वर्ष तक राग-असंयम के साथ जीना कोई मायना नहीं रखता। सिंह बनकर एक दिन जीना भी श्रेष्ठ हैं। किन्तु १०० साल तक चूहे बनकर जीने की कोई कीमत नहीं।** सब कुछ छोड़ दीजिए ख्याति, पूजा, लाभ, वित्त, वैभव। अपने आत्मवैभव की बात करिये अब।

इन पांच दिनों में २ दिन आपके थे और ३ दिन अब हमारे होंगे। अब भगवान् हमारे हो जायेंगे। अभी तक तो वह मोह के पालना में झूले, लेकिन कल मोह को छोड़ेंगे तब कैसा माहौल होगा? क्या वैराग्य, क्या आत्मा का स्वभाव होता है? ज्ञात होने लग जायेगा। जितना भी वैभव है, सब कुछ छोड़कर निकलेंगे

वे। आप लोगों के पास क्या है? षट्खण्ड का आधिपत्य भी छोड़कर चले जाते हैं। आपके पास तो छह खण्ड का मकान भी नहीं है। एक खण्ड का है, वह भी रिसता है बरसात के दिनों में, यदि तूफान आ जाए तो छप्पर भी उड़ जाए। इस प्रकार आप तो एक खण्ड के भी अधिपति-स्वामी नहीं हैं, एक मकान के भी स्वामी नहीं है। और फिर भी क्या समझ रहे हैं अपने आपको। यह सब पर्याय-बुद्धि है। इसमें कुछ भी नहीं है।

ऐसे अनमोल क्षण चले जा रहे हैं, आप लोगों के। इसलिए यदि साधु नहीं बन सकते, मुनि नहीं बन सकते, तो ना सही, परन्तु श्रावकाचार के अनुरूप सदासुखदास जी का तो साथ सबको देना ही चाहिए। यानि श्रावक के व्रतों को तो अंगीकार करना ही चाहिए जो कि परम्परा से मोक्ष-सुख के साधन हैं।

४

प्रातःकाल जन्मकल्याणक महोत्सव हो चुका है। उसी के विषय में कुछ कहना चाह रहा हूँ। "भगवान का जन्म नहीं हुआ करता, जन्म के ऊपर विजय प्राप्त करने से बनते हैं भगवान्। इसी अपेक्षा से यहाँ पर जन्मकल्याणक मनाया गया। यह जन्म महोत्सव हमारे लिये श्रेयस्कर भी होगा। ''क्या "हम भी अपना जन्म महोत्सव मनायें" इस पर भी कुछ कहना चाहूँगा। अन्य विषयों पर भी कुछ कहूँगा। तो सबसे पहले जन्म को समझें। आचार्य समन्तभद्रस्वामी जी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में एक कारिका के द्वारा अठारह दोष गिनाये हैं-

क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥

इन दोषों से रहित होना ही भगवान् का सही-सही स्वरूप है। जिन्हें हम पूज्य मानते हैं, चरणों में माथा झुकाते हैं, आदर्श मानते हैं, उनके सामने घुटने स्वतः ही अवनत हो जाते हैं। यहां अठारह दोषों में एक जन्म भी जाता है और मरण भी, किन्तु वह मरण महान् पूज्य हो जाता है जिसमें फिर जन्म नहीं मिलता।

प्रातःकाल बात यह कही थी कि प्रत्येक वस्तु का परिणमन करना स्वभाव है। चाहे वह जीव हो या अजीव, कोई भी हो। इतना अवश्य है कि जीव-जीव के रूप में परिणमन करता है और अजीव-अजीव के रूप में। कभी भी अजीव, जीव के रूप में तथा जीव अजीव के रूप में परिणमन

नहीं करता। तब भी हमारी दृष्टि में जीव का परिणमन, जीव के रूप में न आकर अजीव के रूप में आता है, जो हमारी ही दृष्टि का दोष है। आचार्यों ने तो आप्त, सच्चे देव की परीक्षा करके, लक्षण बता दिया। इसके माध्यम से क्या होने वाला है? हमारे साध्य की सिद्धि होने वाली है। वे तो आदर्श रहेंगे और उनके माध्यम से हमारा भाव, हमारे भीतर उद्भूत होगा, स्वरूप की पहिचान होगी। क्या कभी आपने दर्पण देखा है? दर्पण कहो, प्रतिमा कहो, बात एक ही है। दर्पण देखा है, ऐसा कह तो देंगे। परन्तु वस्तुतः दर्पण देखने में आता ही नहीं। ज्यों ही दर्पण हम हाथ में लेते हैं त्यों ही उसमें अपना मुख दिखाई देने लगता है। दर्पण नहीं दीखता और दर्पण के बिना अपना मुख भी नहीं दीखता।

भगवान् भी दर्पण के समान है, क्योंकि वे अठारह दोषों से रहित है, स्वच्छ-निर्मल है। उनको देखकर ज्ञान हो जाता है कि हमारे सारे के सारे दोष अभी विद्यमान हैं। इसलिए हमारा स्वरूप यह नहीं है। स्वरूप की पहिचान दो प्रकार से होती है एवं सुख की प्राप्ति भी दो प्रकार से होती है। इसी तरह ज्ञान भी दो प्रकार का होता है। एक विधि रूप और दूसरा निषेध रूप। जैसे आपने बेटे से कहा- तुम्हें यहाँ पर नहीं बैठना है तो उसे अपने आप यह ज्ञान हो जाता है कि मुझे यहाँ न बैठकर वहाँ बैठना है। यदि वहाँ के लिए भी निषेध किया जाता है तो वह अन्यत्र प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार से निषेध से ही विधि का ज्ञान हो जाता है। मात्र कहने का ढंग अलग-अलग है, बात तो एक ही है। इसी तरह मोक्ष मार्ग में कहा जाता है कि पकड़िये अपने आपको। तब आप कहते हैं क्या पकड़ें महाराज! कुछ भी दीखने में नहीं आता। कोई बात नहीं, यदि पकड़ मैं नहीं आता तो न पकड़िये, किन्तु जो पकड़ रखा है उसको छोड़िये"- यह निषेध रूप कथन है। इससे निषेध करते-करते अपने आप ज्ञात हो जाता है कि यह हमारा स्वरूप है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने एक स्थान पर लिखा कि- आत्मा का स्वरूप क्या है? आत्मा का स्वभाव क्या है? आत्मा के लक्षण से हम स्वरूप को पहचान सकते हैं, स्वभाव को जान सकते हैं। तो मतलब यह हुआ कि लक्षण अलग हैं और स्वरूप-स्वभाव अलग। दोनों में बहुत अन्तर होता है। वर्तमान में लक्षण का संवेदन हो सकता है, होता है, किन्तु स्वरूप का संवेदन नहीं होगा। उपयोग, आत्मा का लक्षण है। इससे ही आत्मा को पकड़ सकते हैं। स्वरूप का श्रद्धान भी इस लक्षण के माध्यम से ही होगा। जिसकी प्राप्ति के

लिए श्रद्धान किया जाता है तो उसकी प्राप्ति में साधना की भी आवश्यकता होती है। जैसे कि भगवान् बनने के लिए प्रक्रिया कल से प्रारम्भ होने वाली है। साधना के लिए "समयसार" में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने लिखा है-

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥

जीव रूपवान् नहीं है। जीव गन्धवान् नहीं है। जीव रसवान् नहीं है। जीव स्पर्शवान् नहीं है। जीव संस्थान वाला नहीं है। जीव उपयोग वाला है। अब सोचिये- यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं, फिर स्वभाव क्या है आत्मा का? अनिर्दिष्ट संस्थान। संस्थान आत्मा का स्वभाव नहीं है। फिर संस्थान क्यों मिला, क्या कारण है? जब संस्थानातीत है तो संस्थान क्यों मिला, जो आकार-प्रकार से रहित है उसमें आकार-प्रकार क्यों? जो रूप, रस, गन्ध, वर्णवाला नहीं है फिर भी उसे रस, रूप, गन्ध के माध्यम से पहचान सकेंगे। जैसे पण्डित जी ने अभी कहा- क्या कहा था अपने आपको? हुकुमचन्द ही तो कहा था। कहने में भी यही आयेगा अन्यथा अपना परिचय देना कैसे संभव है? तब मैं सोच रहा था कि पण्डित जी अपनी आत्मा के बारे में क्या परिचय देते हैं? आखिर हुकुमचन्द यही तो कहना पड़ा। शब्द के माध्यम से ही अपनी आत्मा का बोध कराया, जो कि शब्दातीत है। अर्थ यह हुआ कि पण्डित जी ने विधि परक अर्थ कभी भी नहीं बताया, बता भी नहीं सकेंगे, क्योंकि कुन्दकुन्दस्वामी खुद कह रहे हैं "अरस" अर्थात् रस नहीं है। तो क्या है? भगवान् ही जानें। अरस, अरूप, अगन्ध, अस्पर्श, अनिर्दिष्टसंस्थान- कोई आकार-प्रकार नहीं है, अलिंगग्रहण रूप है। किसी बिम्ब के द्वारा, किसी साधन के द्वारा उसे पकड़ा नहीं जा सकता, फिर भी आँखों के द्वारा देखने में आ रहा है, छूने में आ रहा है, संवेदन भी हो रहा है। सब कुछ हो रहा है। हां ठीक ही तो है, संवेदन, आत्मा के साथ बना रहने वाला है। चाहे गलत ही सही। संवेदन, आत्मा का लक्षण है। महसूस करना, अनुभव करना आत्मा का लक्षण है। केवल ज्ञान आत्मा का लक्षण नहीं है, वह आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव की प्राप्ति उपयोग के ऊपर श्रद्धान करने से ही हुआ करती है। अन्यथा तीन काल में भी कोई रास्ता नहीं है। स्वभाव का श्रद्धान करो? जब ऐसा कहते हैं तो आप कहते हैं कि कुछ दीख ही नहीं रहा है महाराज! लेकिन श्रद्धान तो उसी का किया जाता है जो दीखता नहीं है, तभी सम्यग्दर्शन होता है।

लक्षण अन्यत्र नहीं मिलना चाहिए। उसका नाम विलक्षण है। विलक्षण होना चाहिए, भिन्न पदार्थों से। घुले-मिले हुए बहुत सारे पदार्थों को पृथक् करने की विधि का नाम ही लक्षण है। लक्ष्य तक पहुंचने के लिये लक्षण ही दीखता है, लक्ष्य नहीं। यदि लक्षण भी नहीं दीखता तो हम नियम से भटक रहे हैं, ऐसा समझ लीजिए। आत्मा दिखेगा नहीं, आत्मा का स्वरूप भी नहीं दिखेगा। घबड़ाना नहीं। आचार्य कहते हैं - जो दिखेगा वह हमेशा बना रहेगा, उसका लक्षण अलग है। चाहे सो रहे हों या खा रहे हों, पी रहे हों या सोच रहे हों। चाहे पागल भी क्यों न बन जायें। पागल भी अपना संवेदन करता रहता है। महाराज! पागल का कैसा संवेदन होता है? होता तो है लेकिन वह संवेदन पागल होकर के ही देखा जा सकता है, किया जा सकता है, कहा नहीं जा सकता, संवेदन कहने की वस्तु नहीं है।

इस प्रकार उपयोग रूप लक्षण को पकड़कर घने अन्धकार में भी कूद सकते है। इसमें घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। लेकिन जिस समय लक्षण हाथ से छूट जाएगा, उस समय अन्धकार में नियम से भटकन है। हमें इसलिए नहीं घबड़ाना है कि कुछ भी अनुभव नहीं हो रहा, फिर कैसे प्राप्त करें उसे? किसके ऊपर विश्वास करें? "विश्वास उसके ऊपर करना है जो हमें प्राप्त करना है। और वर्तमान में क्या करता है? वर्तमान जो अवस्था है उसी को देखकर विश्वास को दृढ़ बनाते चले जाना है। आत्मा को वर्तमान में तो मात्र प्रत्यक्ष ज्ञानी ही देखते हैं और हम **"आगमप्रामाण्यात् अभ्युपगम्यमानानां"** से जानते हैं। दूसरी बात, जितनी भी अर्थपर्याय होती हैं, वे सारी की सारी आगम-प्रमाण के द्वारा ही जानी जाती हैं। वे स्वभावभूत पर्यायें जो हैं।

लक्षण पर विश्वास करिये, जो त्रैकालिक बना रहता है। स्वभाव त्रैकालिक नहीं होता। आप कहेंगे, महाराज! आचार्यों ने तो कहीं-कहीं पर स्वभाव को भी त्रैकालिक होता है, ऐसा कहा है। हां, कहा तो है लेकिन, जिस स्वभाव की बात यहाँ पर कह रहा हूँ, उस स्वभाव को त्रैकालिक नहीं कहा। उन्होंने कहा है- "अभूदपुव्वो हवदि।"

ज्ञान को, सामान्य बनाने पर, उपयोग को सामान्य बनाने पर, यह स्वभाव त्रैकालिक रहेगा। चाहे निगोद अवस्था हो या सिद्धावस्था, या और भी शेष अवस्थाएं। परन्तु केवलज्ञान रूप जो स्वभाव है, वह त्रैकालिक नहीं होता। तात्कालिक हुआ करता है। यह बात अलग है कि उत्पन्न होने के उपरान्त,

वह अनन्तकाल तक अक्षय रहेगा, तब भी पर्याय की अपेक्षा तो क्षणिक रहेगा। अर्थपर्याय तो और भी क्षणिक होती है। क्षणिक होना ही तो बता रहा है कि क्षय से उत्पन्न होता है, हो रहा है। हां! गुण जो है वे त्रैकालिक हैं। द्रव्य भी त्रैकालिक हुआ करता है। गुण की अपेक्षा से लक्षण होता है, पर्याय की अपेक्षा नहीं। केवलज्ञान को आत्मा का लक्षण माना जाए तो "अव्याप्तिदोष" आ जाएगा। इसलिए वह लक्षण नहीं, स्वभाव है। उस स्वभाव की प्राप्ति कैसे होती है? जब साधना करेंगे तब। साधना कैसी करें महाराज! आचार्य कहते हैं- इसको (आत्मा को) अरस मान लें, अगन्ध मान लें, और अरूपी मान लें। जब अगन्ध है तो सूंघने के द्वारा हमें सुख नहीं आयेगा, जब अरस है तो चखने से पकड़ में नहीं आयेगा, अतः चखना छोड़ दें। देखने में तो रूपग्रहण होगा और आत्मा का स्वभाव अरूप है। अतः देखने का कोई मतलब नहीं, फिर उतार दीजिए चश्मा, आंख भी बन्द कर लीजिए, अब देखने की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिए, जो केवल भगवान् बनने वाले हैं, वह नासादृष्टि करेंगे। क्यों करेंगे? कल ही समझ में आयेगा, कि मेरा अस्तित्व होते हुए भी, वह मुझे तब तक नहीं मिलेगा, जब तक सब ओर से दृष्टि नहीं हटेगी। आंख बन्द करूंगा, कान बन्द करूंगा- कानों को बन्द करने का अर्थ, अब रेडियो की आवश्यकता नहीं, ना सीलोन, ना विविधभारती और ना ही बी.बी.सी. लंदन। किसी से कोई मतलब नहीं। मतलब यही हुआ कि भीतर, अपने में उतरना है। भीतर की आवाज को सुनो, जो आवाज शब्द नहीं, अशब्द है। अगन्ध है, सूंघने के द्वारा पकड़ में नहीं आयेगी। किससे पकड़े? जिन-जिन साधनों के माध्यम से यह संसारी प्राणी पकड़ने की चेष्टा कर चुका है, कर रहा है और आगे करने वाला है, उन सभी को मिटाने का प्रयास ही, साधन हो सकता है।

तू अरूपी है, तो छोड़ दे रूप को और उसके पकड़ने के साधनों को। करण और आलोक प्रमाण की उत्पत्ति में कारण नहीं। जैसा कि "परीक्षामुख" में कहा है-

"नार्थालोको कारणं"

अर्थ और आलोक के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। इसी तरह इन्द्रियों के द्वारा भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। इनके द्वारा मात्र पुद्गलपदार्थ ही पकड़ में आते हैं, और कुछ भी नहीं। मतिज्ञान के द्वारा आप क्या पकड़ेंगे? पंचेन्द्रियों के विषय ही तो पकड़ेंगे। इसके अलावा मतिज्ञान का क्षेत्र-विषय, और है ही नहीं। मतिज्ञान के द्वारा पंचेन्द्रिय के विषयों का ग्रहण

होता है, पंचेन्द्रिय के विषय तो आत्मा नहीं, मात्र जड़। फिर आपने आपको जानने के लिए- "मैं कौन हूँ" जानने के लिए आचार्य कहते हैं- "वह नहीं, जो आज तक तुम समझते थे। यह नहीं, यह नहीं, नेति-नेति, एक ऐसी मान्यता नीति है। इतना ही नहीं, "यह नहीं" के साथ "इतना भी नहीं।" मानना होगा। फिर कितना? जितना पूछोगे, उतना नहीं। क्योंकि पूछना बाहरी दृष्टिकोण से हो रहा है और बात चल रही है अन्तरंग की। इसलिए "यही नहीं" कहते ही समझने वाला अपने आप समझ लेता है कि, यह ठीक नहीं, अतः दूसरी प्रक्रिया अपनानी होगी।

आत्मा के लिए, दुनिया की किसी भी वस्तु की उपमा नहीं दी जा सकती। आत्मा अनिर्दिष्टसंस्थान रूप और अलिंगग्रहण है, और वस्तुएं इससे विपरीत। ऐसे विचित्र स्वरूप वाली आत्मा को हमें प्राप्त करना है। इसमें बहुत देर तो नहीं लगेगी, मात्र पांच इन्द्रियों के विषयों को गौण करना आवश्यक होगा। **दुनिया को गौण मत करो, दुनिया को समाप्त करने का प्रयास मत करो, अपनी दृष्टि को, अपने भावों को, अपने दृष्टिकोण को पलटने का प्रयास करो।**

राजस्थान की बात है। एक सज्जन ने कहा- महाराज! आपकी चर्या बहुत अच्छी है, बहुत प्रभावित भी हुआ हूँ आपसे। लेकिन एक बात है, यदि आप नाराज न हों तो। नाराज होने की क्या बात? आपको जहाँ सन्देह हो, बताओ? देखिए, बात ऐसी है नाराज नहीं होइये। हां-हां कह रहा हूँ, नाराज होना ही क्यों? नाराज है तो महाराज नहीं, महाराज हैं तो नाराज नहीं। तो महाराज ऐसा है, आप एक लंगोटी लगा लो तो अच्छा रहेगा। हमने सोचा- इन्होंने कुछ सोचा तो है। सामाजिक प्राणी है, संभव है इनके लिए विकार नजर में आ रहा हो। मैंने कहा- अच्छा ठीक है। बात ऐसी है कि लंगोट तो आप खरीदकर ला देंगे, लेकिन फिर दूसरी भी तो चाहिए। एक दिन एक पहनूँगा, एक दिन दूसरी। दूसरी भी आ जाए तो उसके धोने आदि का प्रबन्ध करना होगा तथा फटने पर सीने या नयी लाने का पुनः व्यवस्था करनी होगी। हां, जीवन बहुत लम्बा चौड़ा है, इससे आप जैसे लोग भी बहुत मिलेंगे। अतः सर्वप्रथम आपसे ही मेरा सुझाव है कि आपको जब कभी भी यह रूप देखने में आ जाए तो उस समय आप अपनी ही आंखों पर एक हरी पट्टी लगा लीजिए, उसको लगाना, आंखों को लाभदायक भी होगा और रोशनी से शान्ति-छुटकारा भी मिलेगा।

इतना कहते ही उनकी समझ में आ गया कि कमी कहाँ है। वस्तुतः विकार हमारी दृष्टि में है। विकार दुनिया में नहीं है, वस्तु में नहीं है। केवल दृष्टि में विकार को हटाना है, दृष्टि को मोड़ना है। दुनिया पर हर चीज थोपना नहीं चाहिए। ध्यान रखिये, सामने वाले के ऊपर जितना थोपा जाएगा, उतना ही वह अधिक विकसित, अधिक दिमाग वाला होता जाएगा। वह विचार करेगा कि यह क्यों थोपा जा रहा है? जैसा-किसी के पीछे जितनी जासूसी लगाई जाती है, वह उतना ही उससे ऊपर निकलने का प्रयास करता है क्योंकि उसके पास माइन्ड है, ज्ञान है। वह काम करता रहता है। रक्षा का प्रावधान करता रहता है। इसलिए सबसे बढ़िया यही है कि बाहर की ओर न देखें।

मार्ग सरल है, स्वाश्रित है, पराश्रित नहीं है। आनन्दवाला है, कष्टदायक नहीं है। आंख मीच लो, १०-१५ मिनिट के उपरान्त, माथे का दर्द भी ठीक हो जाएगा। क्योंकि इन्द्रियों के माध्यम से जो मिल रहा है, हम उसकी खोज में नहीं है। हमारी खोज उस रूप के लिए है जो सबसे अच्छा हो, उस गन्ध के लिए है जो तृप्ति दे, उस शब्द के लिए है जो बहुत ही प्रिय लगे, कर्णप्रिय हो। यह सब इन्द्रियों के माध्यम से "ण भूदो णं भविस्सदि"। पंचेन्द्रिय के विषय मिलते रहते हैं और उनमें इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती है। यह कल्पना आत्मा में उपयोग में होती है, वह भी मतिज्ञान के द्वारा नहीं, श्रुतज्ञान के द्वारा होती है। मतिज्ञान के द्वारा इष्ट-अनिष्ट कल्पना, तीन काल में संभव नहीं है। मतिज्ञान एक प्रकार से निर्विकल्प-निराकार होता है। उसमें वस्तुएं दर्पणवत् झलकती हैं। झलक जाने के उपरान्त यह किसकी है? यह विचारधारा बनना श्रुतज्ञान की देन है, मतिज्ञान की नहीं। श्रुतज्ञान के माध्यम से ही उसे चाहा जाता है, इससे वस्तु पर श्रुतज्ञान का आयाम होता जाता है। या यूं कहें, यह मेरे लिए बुरा है, यह मेरे लिए अच्छा है, इस प्रकार की तरंगें उठती रहती हैं।

"मतिज्ञानं यद्गृह्यते तदालम्ब्य वस्त्वनन्तरं ज्ञानं"

अर्थात् मतिज्ञान के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु का अवलम्बन करके प्रकारान्तर से वस्तु का जानना श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान बहुत जल्दी काम करता है, क्योंकि वह सुख का इच्छुक है। हमें मतिज्ञान का कन्ट्रोल करके श्रुतज्ञान को कन्ट्रोल करने का प्रयास करना चाहिए। यही मोक्षमार्ग में "पुरुषार्थ" माना जाता है।

सुख क्या है? दुःख का अभाव होना ही सुख है। जिस प्रकार यह कहा गया, उसी प्रकार से आत्मा के विषय में भी जानना चाहिए। कारण कि नास्ति और अस्ति, दोनों कथन एक साथ संभव नहीं हैं। यह वस्तुस्थिति है। जिस समय वस्तु उल्टी होती है, उस समय सुल्टी नहीं हो सकती। जिस समय सुल्टी होती है उस समय उल्टी नहीं। जिस समय आरोग्य रहता है उस समय रोग नहीं रहता किन्तु जिस समय रोग आ जाता है, उस समय आरोग्य का अनुभव भले ही ना हो, लेकिन आरोग्य का श्रद्धान तो रह सकता है अर्थात् रोग का अनुभव करना मेरा स्वभाव नहीं है, अतः इसे मिटा देना होगा। जब तक रोग रहेगा, तब तक स्वभाव का, निरोगता का अनुभव सम्भव नहीं। महाराज! अनुभव रहित स्वभाव को कैसे माने? आचार्य कहते हैं- मानो! आगम के द्वारा कहे तत्व पर श्रद्धान रखो। छद्मस्थावस्था में स्वभाव का अनुभव तीन काल में भी संभव नहीं, केवलज्ञान के द्वारा वह साक्षात् हो सकता है। आचार्य कहते हैं कि अर्थपर्याय विशिष्ट द्रव्य को धारणा का विषय बनाना अलग है और उसका संवेदन-साक्षात्कार करना अलग बात है। वह केवलज्ञान के द्वारा ही संभव है।

"केवलज्ञानापेक्षया तु तत् मानसिकप्रत्यक्षं परोक्षमेव किन्तु इन्द्रियज्ञानापेक्षया तत्कथंचित्प्रत्यक्षमपि"

आचार्य कहते हैं कि केवल ज्ञान की अपेक्षा से वह मानसिक-प्रत्यक्ष या छद्मस्थ ज्ञान परोक्ष ही है। मानसिक प्रत्यक्ष को "प्रत्यक्ष" की संज्ञा इन्द्रिय ज्ञान के अभाव को लेकर दी गई है। वह भी श्रद्धान के अनुरूप चलती है अतः पराश्रित है। स्वभाव को हमें प्राप्त करना है अतः। उसी का विश्वास-श्रद्धान आवश्यक है। कैसा है वह? "अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो" ऐसा पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि सिद्धत्वरूप जो स्वभाव है, वह अभूतपूर्व है। अभूतपूर्व का मतलब क्या है? अभूतपूर्व का अर्थ बढ़िया- अपश्चिम है, अपूर्व वस्तु है। अर्थात् ऐसी अवस्था कभी हुई नहीं थी। इसी तरह का अर्थ करणों में भी अपेक्षित होता है। जब गुणस्थान के क्रम बढ़ते जाते हैं, उस समय विशुद्धि बढ़ती जाती है, भावों में वृद्धि होती है। उन करणों में एक अपूर्व करण और एक अनिवृत्तिकरण भी है। जिनमें परिणामो की अपूर्वता होती है, तुलना नहीं होती एक दूसरे से। इस प्रकार की व्यवस्था चलती रहती है उस समय।

अर्थ यह हुआ कि स्वभावभूत वस्तुतत्त्व आज तक उपलब्ध नहीं हुआ हमें। उसका रूप, उसका स्वरूप प्रतीकारात्मक है। यह नहीं है, यह नहीं है-

ऐसा प्रतिकार करते आइये- पलटते जाइये और बिल्कुल मौन हो जाइये। जिसको पलट दिया, उसके बारे में कुछ भी नहीं सोचिये। आपके पास वस्तुओं की संख्या बहुत कम है। लेकिन दिमाग में, सोचने में, उससे कई गुनी हो सकती है। दिमाग की यह कसरत तब आपने आप रुक जाएगी जब यह विश्वास हो जाएगा कि इसमें मेरा "बल" नहीं है।

कम्मो णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्मणोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।।

तब तक अप्रतिबुद्ध होता है जब तक कि कर्म में, नोकर्म में, मेरा-तेरा करता रहता है। तब तक वह ज्ञानी नहीं, अज्ञानी माना जाता है। "यह मैं हूँ, यह मैं हूँ- ऐसा चौबीसों घण्टे इन्द्रियों के व्यापार के माध्यम से सचित्त-अचित्त-मिश्र पदार्थों से जो कि भिन्न हैं, सम्बन्ध जोड़कर चलना और उसके साथ जो पोषक द्रव्य हैं, उनके संयोग से हर्ष और वियोग से विषाद का अनुभव करना, अज्ञानी का काम है। इसी के माध्यम से संसार की यात्रा बहुत लम्बी-चौड़ी होती जाती है। जैसे-अमेरिका में आपकी एक शाखा चलती हो। अब यदि अमेरिका पर बंबारडिंग होने लगे तो, आपके हृदय में भी वह शुरू हो जाएगी। तत्सम्बन्धी सुख-दुख होने लगता है। आप से पूछते हैं कि भैया! आपका देश तो भारत है, अमेरिका नहीं। वह तो विदेश है। बात तो ठीक है, लेकिन हमारा व्यापार सम्बन्ध तो अमेरिका से भी है। इसी प्रकार हमारा व्यापार भी वहाँ चलता है, जहाँ इन्द्रियां हैं। उन्हीं से हित-अहित, सुख-दुख, हर्ष-विषाद का अनुभव करते हैं।

पण्डित जी ने अभी सात प्रकार की "टेबलेट" के विषय में बताया। लेकिन मैं तो यह सोच रहा था कि संसार में सात प्रकार के भय होते हैं और सभी प्राणी उन भयों से घिरे हुए हैं। इसलिए उन्होंने सात प्रकार की गोलियां निकाली होंगी। परन्तु सम्यग्दृष्टि सात प्रकार के भयों से रहित होता है। इसलिए नि:शंक हुआ करता है। जैसा कि "समयसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा है-

सम्मादिट्ठिजीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ।।

सातों भयों से मुक्त हो गये तो फिर गोली की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी, और न कोई शस्त्रों की। क्योंकि उसके द्वारा न आत्मा मरता है, न मरा है और न मरेगा। महाराज! फिर जन्म किसका हो रहा है आज? इसी को तो समझना है। पांच दिन हैं, जिनमें एक दिन जन्म के लिए भी है।

बहुत दिनों की प्रतीक्षा के उपरान्त एक के घर में संतान की प्राप्ति हुई। जिस समय जन्म हुआ, उसी समय उधर ज्योतिर्विद् को बुलाकर कह दिया- भैय्या! इसकी कुण्डली बनाकर ले आना और इधर साज-सज्जा के लिए कहा और मिठाई भी बंटने लगी। सब कुछ हो गया। लेकिन दूसरी घड़ी में ही ज्योतिषी कुण्डली बनाकर ले आया। कहता है- संतान की प्राप्ति बहुत प्रतीक्षा के बाद हुई, लेकिन। लेकिन क्यों कह रहे हो? महान् पुण्य के उदय से हुई, फिर लेकिन क्यों? .... हां, हां पुण्य के उदय से हुई थी और लम्बी प्रतीक्षा के बाद हुई, बिल्कुल ठीक है। लेकिन, ...। लेकिन क्यों लगा रहे हैं?.... बात ऐसी है कि पाप और पुण्य दोनों का जोड़ा है। इसलिए "हुई थी" "पासटेन्स" है। अब वर्तमान में वह नहीं है, वह मर जाएगी। इतने में ही वहाँ से खबर आ गई कि मृत्यु हो गई। सुनते ही विचार में पड़ गया। बहुत दिनों के उपरान्त एक फल मिला था, वह भी किसी से नहीं देखा गया। उसके ऊपर भी पाला पड़ गया। सुना है कि एक महाराज आए हैं जो बहुत पहुँचे हुए है। कहाँ पहुँचे हैं? पता नहीं, लेकिन उनकी दृष्टि में तो बहुत कुछ है, होंगे। वह भागता-भागता गया, उस पुत्र को लेकर। कहा- जिस प्रकार इसको दिया, उसी प्रकार "दिया" (दीपक) के रूप में रखो तो ठीक है। नहीं तो क्या होगा? नहीं-नहीं आप ऐसा नहीं कहिए। आप करुणावान् हैं, दयावान् हैं, मेरे ऊपर कृपादृष्टि रखिये और इसे किसी भी प्रकार बचा दीजिए, क्योंकि आपके माध्यम से बच सकता है- ऐसा सुना है। महाराज बोले-मेरी बात मानोगे? हां-हां, नियम से मानूंगा। जरूर मानूंगा। उसने-सोचा अपने को क्या? यदि काम करवाना है तो बात माननी ही पड़ेगी। महाराज बोले-अच्छा! तो तू कुछ सरसों के दाने ले आ, तेरा बेटा उठ जाएगा। इतना सुनना था कि वह तत्परता से भागने लगा। तभी महाराज ने कहा- इधर आओ, इधर आओ, तुम्हें सरसों के दाने तो लाना है लेकिन साथ में यह भी पूछ लेना कि उसके घर में कभी किसी की मौत तो नहीं हुई? जिसके यहाँ मौत हुई हो, उसके यहाँ से मत लाना, क्योंकि वह सरसों दवाई का काम नहीं करती। ठीक है, ठीक है- कहकर वह चला गया। एक जगह जाकर कहता है- भैया! मुझे कुछ सरसों के दाने दे दो, जिससे हमारा पुत्र पुन: उठ (जी) जाये। अच्छी बात है, ले लो, ये सरसों के दाने, उसने दे दिए और देते ही वह भागने लगा कि याद आया और पूछा- अरे! यह तो बताओ, आपके यहाँ कोई मरा तो नहीं, अभी तो नहीं पर एक साल पहले हमारे काकाजी मरे थे। अच्छा, तब तो ये सरसों नहीं चलेंगे। दूसरे के यहाँ गया, वहाँ पर भी सरसों मांगे और पूछा- सरसों मिल गये और उन्होंने कहा- इन दिनों तो कोई नहीं मरा, पर कुछ दिनों पहले हमारे दद्दा (दादा) जी मरे थे।

इस प्रकार सुनते ही उसने सरसों लौटा दी। ऐसा करते-करते वह प्रत्येक घर गया। लेकिन एक भी घर ऐसा नहीं मिला जिसमें किसी न किसी का मरण न हुआ हो। जो जन्में थे, वही तो मरे होंगे। इस प्रकार मरण की परम्परा चल रही है। एक और घर में गया और देखा कि एक जवान मरा पड़ा है, अभी ही मरा होगा, क्योंकि उसका शव अभी तक उठाया नहीं गया। उसके घर के लोग, अभी भी हाथ-पैर पटक रहे हैं, रो रहे हैं, चिल्ला रहे हैं। दृश्य देखकर मौन हो गया। भागते-भागते थक चुका था। अत: वहीं खड़े-खड़े कुछ सोचने लगा- किसी का घर ऐसा नहीं मिला जहाँ मरण न हुआ हो। सबके यहाँ कोई न कोई मरण को प्राप्त हुआ है। अर्थात् जिसने भी जन्म लिया है, वह अवश्य मरेगा। इससे बचाना किसी के वश की बात नहीं है। उसे औषध मिल गयी, मंत्र मिल गया, सोचा- महाराज वास्तव में पहुंचे हुए हैं।

भागता-भागता उनकी शरण में गया और कहने लगा- महाराज! गलती हो गई? भैय्या! लाओ सरसों के दाने, मैं अभी उठाये देता हूँ तुम्हारे पुत्र को। वह बोला-नहीं, महाराज,! अब वह नहीं उठ सकता, मुझे बोध हो गया।

यह जीवन की लीला है बन्धुओ! मालूम है आपको? व्याकरण में एक "ज्या" धातु आती है। उसका अर्थ "वयोहानौ" होता है। प्रात:काल कहा था कि मरण की क्या परिभाषा है, मरण क्या है? "आयुक्खयेण मरणं" और जीवन की परिभाषा क्या, जीवन क्या? उम्र की समाप्ति होना या उम्र की हानि होती चली जाना जीवन है। मतलब यह हुआ कि मरण और जीवन में कोई अन्तर नहीं है, मात्र इसके कि मरण में पूर्णत: अभाव हो जाता है और जीवन में क्रमश: प्रत्येक समय हानि होती चली जाती है। हानि किसकी और क्यों? वय की हानि, वय का अर्थ उम्र या आयुकर्म। अर्थात् आयुकर्म की हानि का नाम जीवन है और उसके पूर्णत: अभाव का या क्षय का नाम मरण।

हमारे जीवन में मृत्यु के अलावा और किसी का कुछ भी संवेदन नहीं हो रहा है। भगवती आराधना में एक गाथा आयी है, वह मूलाचार, समयसार आदि ग्रन्थों में भी आयी है, जिसमें आवीचिमरण का वर्णन किया है। आवीचिमरण का अर्थ यह है कि पल-पल परिवर्तन पलटन चल रहा है। कोई भी व्यक्ति ज्यों का त्यों बना नहीं रह सकता, कोई अमर नहीं। महाराज। देवों को तो अमर कहते हैं? वहाँ अमर का मतलब है बहुत दिनों के बाद मरना। इसलिए अमर हैं। हम लोगों के समान उनका मरण नहीं होता,

इसलिए भी अमर है। किन्तु उन लोगों की दृष्टि में हम मरते रहते हैं। अत: मर्त्य माने जाते हैं। रोज का मरना मरते हैं हम लोग। रोज मर रहे हैं? हां प्रतिपल मरण प्रारम्भ है, इसी का नाम आवीचिमरण है। मरण की ओर देखो तो मरण, और जीवन की ओर देखा तो मरण।

अंग्रेजी में में एक बहुत अच्छी बात कही जाती है। वह यह है कि - एक दिन का पुराना हो या सौ सालों का, उसे पुराना ही कहते हैं। जैसे- "हाउ ओल्ड आर यू"। हम ओल्ड का अर्थ पुराना तो लेते हैं परन्तु बहुत साल पुराना लेते हैं। लेकिन नहीं, पुराना का अर्थ एक सेकैण्ड बीतने पर भी पुराना है। **अब देखिये पुराना क्या है और अपर या नया क्या है? एक-एक समय को लेकर चलिये, चलते-चलते एक ऐसे बिन्दु पर आकर के टिक जायेंगे आप, यहाँ पर जीवन और मरण, पुराना और नया, एक समय में घटित हो रहे हैं।**

मैं पूछता हूँ- सोमवार और रविवार के बीच में कितना अन्तर है, आप कहेंगे- महाराज! एक दिन का अन्तर है। लेकिन मैं कहता हूँ कि सोचकर बताइये? इसमें सोचने की क्या बात महाराज! स्पष्ट है कि एक दिन का अन्तर है। अरे! सोचिये तो सही, मैं कह रहा हूँ, इसलिये सोचिये तो। फिर भी कहते हैं कि आप एक दिन का अन्तर है। तो कितना अन्तर है महाराज! आप ही बताइये? लीजिये, सोमवार कब प्रारम्भ होता है और रविवार कब समाप्त होता है इस तथ्य को देखिये, तो पता चल जाएगा। आप घड़ी को लेकर के रविवार के दिन बैठ जाइये, क्रमश: एक-एक मिनट, एक-एक घण्टा बीत रहा है। अब रात आ गयी। रात में भी एक-एक मिनट, एक-एक घण्टा बीत रहा है। घण्टों पर घण्टे निकलते चले गये, तब कहीं रात्रि के ११ बजे। अब सवा ग्यारह, साढ़े ग्यारह, और अभी बारह बजने को कुछ मिनट-कुछ सैकेण्ड ही शेष हैं, तब भी रविवार है। आप देख रहे हैं, सुई घूम रही है। अब मात्र एक मिनिट रह गया, फिर भी रविवार है। रविवार अभी नहीं छूट रहा है। अब सेकेण्ड के कांटों की ओर आपको दृष्टि केन्द्रित है। एक सैकेण्ड शेष है तब तक, रविवार ही देखते रहे और देखते-देखते सोमवार आ गया। पता भी नहीं चला। देखा, आपने कि कितने सेकेण्ड का अन्तर है, रविवार और सोमवार में? यदि आप उस सेकेण्ड के भी आधुनिक आविष्कारों के माध्यम से १० लाख टुकड़े कर दें तो और स्पष्ट हो जाएगा। लेकिन सिद्धान्त कहता है वर्तमान सेकिण्ड में असंख्यात समय हुआ करते

हैं। इन असंख्यात समयों में यदि एक समय भी बाहरी रहेगा तो उस समय भी रविवार ही रहेगा। इस अन्तर को अन्दर की घड़ी से ही देखा जा सकता है अर्थात् एक समय ही रविवार और सोमवार को विभाजित करता है।

इसी तरह जीवन और मरण का अन्तर है। आपकी दृष्टि में थोड़ा भी अन्तर आया कि देव-गुरु-शास्त्रों के बारे में भी अन्तर आ गया। सम्यग्दर्शन में भी अन्तर आ गया। इसको पकड़ने के लिए हमारे पास कोई घड़ी नहीं है, पर आगम ही एक मात्र प्रमाण है।

हे भगवान्! कैसा हूँ? मेरे गुणधर्म कैसे हो? भगवान् कहते हैं कि मेरे पास कोई शब्द नहीं है, जिनके द्वारा स्वरूप बोध करा सकूँ। कुछ तो बताइये, आपके आदेश के बिना कैसे दिशा मिलेगी? तो वे कहते हैं कि- "यह दशा तेरी नहीं है" इतना तो मैं कह सकता हूँ परन्तु "तेरी दशा कैसी है" इसे ना मैं दिखा सकता हूँ और ना ही आपकी आँखों में उसे देखने की योग्यता है। नई आंखें आ नहीं सकती। सबको अपने-अपने चश्में का रंग बदलना होगा, भीतर का अभिप्राय-दृष्टिकोण बदलना होगा। इतना सूक्ष्म तत्त्व है कि विभाजन करना संभव नहीं। जैसे समय से भेद नहीं, रविवार और सोमवार के बीच में इतनी मेहनत के बाद भी अन्तर विभाजन करना संभव नहीं। पूरे के पूरे आविष्कार समाप्त हो गये, फिर भी कब रविवार समाप्त हुआ और कब सोमवार आ गया, वह बता नहीं सके। संभव है वह सन्धि आपकी घड़ी में स्पष्ट ना हो, लेकिन आचार्य कहते हैं कि- केवलज्ञान के द्वारा हम इसे साफ-साफ देख सकते हैं और श्रुतज्ञान के द्वारा इसे सहज ही प्रमाण मान सकते हैं।

देव-गुरु-शास्त्र के ऊपर श्रद्धान करिये, ऐसा मजबूत श्रद्धान करिये, जिसमें थोड़ी भी कमी न रहे। ऐसा श्रद्धान ही कार्यकारी होगा। **सिद्धान्त के अनुरूप श्रद्धान बनाओ। तत्त्व को उलट-पलट का श्रद्धान नहीं करना है। हमें अपने भावों को सिद्धान्त/तत्त्व के अनुसार पलटकर लाना है। जैसे रेडियो में सुई के अनुसार स्टेशन नहीं लगती बल्कि स्टेशन के नम्बर के अनुसार सुई को घुमाने पर ही विविधभारती आदि स्टेशन लगती है।** एक बाल मात्र का भी अन्तर हो गया/ सुई इधर की उधर हो गयी तो सीलोन लग जाएगी। अब संगीत का मजा नहीं आयेगा। वही स्थिति भीतरी ज्ञान-तत्त्वज्ञान की भी है। कभी-कभी हवा (परिणामों के तीव्र वेग) के द्वारा यहां की सुई इधर से उधर की ओर खिसक जाती है तो डबल स्टेशन चालू हो जाते हैं। किसको सुनोगे, किसको कैसे समझोगे? तत्त्व बहुत सूक्ष्म है। वस्तु का परिणमन बहुत सूक्ष्म है, उसे पकड़ नहीं सकते।

जन्म-जरा-मृत्यु, ये सभी आत्मा की बाहरी दशायें हैं। अनन्तकाल से यह संसारी प्राणी आयुकर्म के पीछे लगा हुआ है। अन्य कर्म तो उलट-पलटकर अभाव को प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु आयुकर्म का उदय एक सेकेण्ड के सहस्रांश के लिए भी अभाव को प्राप्त नहीं हुआ। यदि एक बार अभाव को प्राप्त हो जाए तो मुक्त हो जायें, दुबारा होने का फिर सवाल ही नहीं। आयुकर्म प्राप्त है, जो चौदहवें गुणस्थान तक माना जाता है। वह जब तक रहता है तब तक जीव संसारी माना जाता है, मुक्त नहीं माना जा सकता।

जन्म क्या है? मृत्यु क्या है? इसको समझने का प्रयास करिये। ये दोनों ही ऊपरी घटनाएं हैं। आने-जाने की बात नयी नहीं है, बहुत पुरानी है। संसार में कोई भी नया प्रकरण नहीं है, अनेकों बार उलटन-पलटन चल रहा है। अनन्तकाल से कस्सम-कस चल रहा है। जिस प्रकार से चूने में पानी डालने से रासायनिक प्रक्रिया होती है। उसी प्रकार जीव और पुद्गल, इन दोनों का नृत्य हो रहा है। इसे आंख बन्द कर देखिए, बहुत अच्छा लगेगा। परन्तु आँख खोलकर देखने से मोह पैदा होगा, राग पैदा होगा। जो व्यक्ति इस शरीर को, पर्याय को लेकर अपनी उत्पत्ति मान लेता है तो उसे आचार्य कुन्दकुन्ददेव सम्बोधित करते हैं कि- तू पर्याय बुद्धिवाला बनता जा रहा है, परिवर्तन/परिणमन तो आत्मा में निरन्तर हो रहा है। क्षेत्र में भी हो रहा है। इस क्षेत्र में लाया गया। वहाँ अपना डेरा जमाया। नोकर्म के माध्यम से इसे जन्म मिला। इसमें मात्र पर्याय का परिवर्तन है, वह भी कर्मकृत पर्याय का परिवर्तन। उपयोग का नहीं। आत्मा का जो लक्षण पहले था, अब भी है, आगे भी रहेगा।

जो व्यक्ति इस प्रकार के जन्म से, जन्म-जयन्ती से हर्ष का/उल्लास का अनुभव करता है उसे जन्म से बहुत प्रेम है। जबकि भगवान् ने कहा है कि जन्म से प्रेम नहीं करिये। यह दोष है, महादोष है, इनसे मुक्त हुए बिना भगवत् पद की उपलब्धि नहीं होगी। यदि आप जन्म को अच्छा मानते हैं, चाहते हैं तो जन्म जयन्ती मनाइये। यदि ऐसा कहते हैं कि भगवान् की क्यों मनाई जाती है? तो ध्यान रखिये उसकी जन्म जयन्ती इसलिए मनाई जाती है कि वह तीर्थंकर होने वाले हैं। असंख्यात जीवों के कल्याण का दायित्व इनके पास है। इसकी साक्षी के लिये, इसे स्पष्ट करने के लिए इन्द्र जो कि सम्यग्दृष्टि होता है, आता है और जन्मोत्सव मनाता है। आज पंचमकाल में जो जन्म लेता है वह मिथ्यादर्शन के साथ जन्म लेता है, इससे जन्मोत्सव मनाना यानि मिथ्यादर्शन का समर्थन करना है, पर्यायबुद्धि का समर्थन है।

इसलिए ऐसा न करें। सम्यग्दृष्टि तो भरत और ऐरावत क्षेत्र में पंचमकाल में आते ही नहीं। वे वहाँ जाते हैं, जहाँ से मोक्षमार्ग का- निर्वाण का मार्ग खुला है। पुण्यात्माओं का जन्म यहाँ नहीं होता, यहाँ जन्म लेने वाले मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र के साथ ही आते हैं और उनकी जन्म-जयन्ती मनाना-मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र की ही जयन्ती है इसमें सम्यग्दर्शन की कोई बात नहीं। सम्यग्दर्शन के लिए कम से कम आठ वर्ष लगते हैं। इससे पूर्व सम्यग्दर्शन होने की कोई गुंजाइश भी नहीं होती। उस समय मिथ्याचारित्र ही होता है। जबकि जैनागम में सम्यक्चारित्र को ही पूज्य कहा गया है, इसके अभाव में तीन काल में भी पूज्यता नहीं आ सकती। ध्यान रखिये बन्धुओ! मिथ्यादृष्टि की जयन्ती मनाना, मिथ्यादर्शन एवं मिथ्याचारित्र का पूजत्व स्वीकार करना है, जो कि संसार परिभ्रमण का ही कारण है। यदि हमें संसार से मुक्त होना है तो कुछ प्रयास करना होगा, और वह प्रयास आजकल की जन्म-जयन्तियों के मनाने में सफल नहीं होगा। बल्कि उनकी दीक्षा तिथि, अथवा संयमग्रहणदिवस जैसे महान् कार्य के स्मरण से ही हमारी गति, उस ओर होगी, जिस ओर हमारा लक्ष्य है।

सभी प्राणी लक्ष्य को पाना चाहते हैं, अतः उन्हें यह ध्यान रखना होगा, यह प्रयास करना होगा कि वे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र का पालन एवं समर्थन न कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की ओर बढ़े, जो कि आत्मा का धर्म है एवं शाश्वत सुख (मोहसुख) को देने वाला है।

५

उस धर्म को बारम्बार नमस्कार हो जिस धर्म की शरण को पाकर के संसारी प्राणी पूज्य बन जाता है, आराध्य बन जाता है। अक्षय/अनन्तसुख का भंडार बन जाता है।

अभी आपके सामने दीक्षा की क्रिया-विधि सम्पन्न हुई, यह मात्र आप लोगों को उस अतीत के दृश्य की ओर आकृष्ट करने की एक योजना है कि किस प्रकार वैभव और सम्पन्नता को प्राप्त करते हुए भी, भवन से वन की ओर विहार हुआ। संसार महावन में भटकने वाले भव्य जीवो! थोड़ा सोचो, विचार करो, कि आत्मा का स्वरूप क्या है? अभी तक वैभव से अंलकृत वह श्रृंगार-हार, जो कुछ भी था, उस सबको उतार दिया। कारण,

आज तक जो लाद रखा था उसको जब तक उतारेंगे नहीं, तब तक तरने का कोई सवाल नहीं होता। आप लदने में ही सुख-शान्ति का अनुभव कर रहे हैं और मुमुक्षु उसको उतारने में, सुख का, शान्ति का अनुभव कर रहे हैं, यह भीतरी बात है। देखने के लिए क्रिया ऐसी लगती है कि जैसे आप लोग कमीज उतार देते हैं और पहन लेते हैं, लेकिन यहाँ पहनने का कोई सवाल नहीं। अब दिगम्बर दशा आ गई। अभी तक इस प्रकार से वे श्वेताम्बर थे, अब तो दिगम्बर बन गये और आप दिगम्बर के उपासक हैं इसलिए आप दिगम्बर है, वस्तुतः आप दिगम्बर नहीं है।

आप इसलिए सब वस्त्र पहनते हुए भी दिगम्बर माने जाते हैं। इस मत को जो नहीं मानते वो तो हमेशा वस्त्र में ही डूबे रहते हैं।

आपके मन में एक धारणा बननी चाहिए कि मेरी भी यह दशा इस जीवन में कब हो! वह घड़ी, वह समय, वह अवसर कब प्राप्त हो मुझे। हे भगवन्! मेरे जैसे आप भी थे, लेकिन हमारे बीच में से आप निकल चुके। कल तक मैं कहता रहा-भैया! आदिकुमार-ऋषभकुमार आपके घर में हैं जो कुछ भी करना हो कर लो, सब कुछ आपके हाथ की बात है। लेकिन ज्यों ही वन की ओर आ जायेंगे, नियम से आप मेरे पास आ जाएंगे, कि महाराज! अब आगे क्या करना है? ये मान नहीं रहे हैं। घर में रहना नहीं चाहते, अब कहा जाएंगे, पता नहीं। बस, अब तो उन्हें पता है और आपको? आप लोग तो लापता हो जाएंगे, अब आपका कोई भी पता नहीं रहेगा। इसीलिए उस दिगम्बर की शरण में चले जाइये, वहाँ सबको शरण मिल जायेगी।

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम।
तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष-रक्ष मुनीश्वरः।।

हे यते! हे-यतियों में भी अग्रनायक! हमारे लिए शरण दो। भगवान् को वैराग्य हुआ, उनके साथ चार-हजार और दीक्षित हो जाते हैं। यहाँ पर तो उनके माता-पिताओं को भी वैराग्य हो रहा है। तीर्थंकर अकेले लाडले पुत्र होते हैं। घर में यदि २ पुत्र हैं कि जो कमाता है, उसके ऊपर ज्यादा प्रेम बरसता है, जो नहीं कमाता, उसके ऊपर करेंगे ही नहीं। इनका इतना तेज पुण्य होता है कि लाड़-प्यार जो कुछ भी मिलता है, माता-पिताओं का वह एक के लिए ही मिलता है। इसलिए वे विषयों में भूल जाते हैं और बाद में विषय से विरक्ति का संकल्प लेते हैं। यहाँ पर भी माता-पिता बनने का सौभाग्य भी बहुत मायने रखता है। तीर्थंकर के माता-पिता, यह संसारी प्राणी आज तक नहीं बना, बन जाने पर नियम से एक-आध भव से मुक्ति मिलती

है। इन लोगों (उपस्थित माता-पिताओं) की भावना हुई है कि इस पुनीत अवसर पर वे आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करें और अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें। इस माध्यम से हम भी भगवान् से प्रार्थना करते हैं, जिस प्रकार प्रभु का कल्याण हो गया/हो रहा है, इनका भी हो।

उधर भगवान् के साथ चार हजार राजा भी दीक्षित हुए, लेकिन उन्होंने दीक्षा नहीं दी किसी को। दीक्षा किसलिए नहीं दी? इसलिए नहीं दी कि, वे किसी को आदेश नहीं देंगे। दीक्षा लेने के उपरान्त वे गहरे उतरेंगे, किसी से कुछ नहीं कहेंगे। भीतर-भीतर आत्मतत्त्व से डुबकी लगाते-लगाते जब एक हजार वर्ष व्यतीत हो जायेंगे, तब कैवल्य की उपलब्धि होगी। इन एक हजार वर्षों तक मौन रहेंगे, आहार के लिए आयेंगे, सब कुछ क्रियायें होगीं, लेकिन कुछ उपदेश नहीं देंगे। न आशीर्वाद देंगे, न कोई आदेश। मौन रहना ही इन्हें पसन्द होगा। इसके बाद बनेंगे ऋषभनाथ भगवान्। दिखाने के लिए कल ही कैवल्य हो जाएगा, कारण एक हजार साल तक तो आप वैसे भी प्रतीक्षा नहीं कर सकोगे। अत: मतलब ये है कि इस प्रकार की साधना में उतरेंगे कि वह आत्मा का रूप बन जाएंगे। यही सत्य मार्ग है।

इस समय ज्यादा कहना आपको अच्छा नहीं लग रहा होगा क्योंकि आप आकुलित हैं, भगवान् आपके घर से चले गये हैं। भगवान् नहीं थे वे, कुमार थे, और आपके अण्डर में नहीं रह पाये। ये ध्यान रखना, माता-पिताओं का कर्त्तव्य होता है अपनी संतान की रक्षा करें। यदि वह घर में रहना चाहे, तो उसके लिए सब-कुछ व्यवस्था करें। घर में नहीं रहता तो यह देख लेना चाहिए कि कहाँ जाना चाहता है। कहीं विदेश तो नहीं जाता। यदि विदेश आदि जाने लगे तो, नहीं, यह हमारी परम्परा नहीं है, यहाँ पर रहो, यह काम करो, ऐसा समझाना चाहिए। और यदि आत्मा के कल्याण के लिए वन की ओर जाना चाहता है तो आपके वश की कोई बात नहीं है। यही दुआ आपके वश की बात नहीं रही और ऋषभकुमार निकल चुके घर से।

धन्य हैं यह घड़ी, यह अवसर, युग के आदि में यह कार्य हुआ था। और आज हमने उस दृश्य को देखा, जाना। किसके माध्यम से जाना यह सब कुछ? अपने आप जान लिया गया? अपने आप आ गई क्या यह क्रिया? नहीं! इसके पीछे कितना रहस्य छुपा हुआ है। बड़े-बड़े महान् सन्तों ने इस क्रिया को अपने जीवन में उतारा और किसी ने इस क्रिया को अपनी लेखनी के माध्यम से लिख दिया। यही एक मार्ग है जो मोक्ष तक जाता है, और कोई नहीं।

विश्व में, सारे के सारे मार्ग को बताने वाले साहित्य हैं। लेकिन यहाँ पर साहित्य के साथ-साथ साहित्य के अनुरूप आदित्य भी हैं। आज तक हमारी यह परम्परा अक्षुण्ण है। यह हम लोगों के महान् पुण्य और सौभाग्य का विषय है। आज भी ऐसा साहित्य मिलता है, जिससे हम अध्यात्म-दशा को प्राप्त कर सकते हैं। कई बार पूछा जाता है कि कैसे प्राप्त कर सकते हैं हमें भी बता दो? तो वहाँ पर यही क्रियाएं हो रही हैं, जिन्हें देखकर मालूम होता है कि ऐसे प्राप्त की जाती है वह अवस्था। इतना ही नहीं, आज कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा के अनुरूप चलने वाले, लिंग को धारण करने वाले भी मिलते हैं। तीन लिंग बताये गये हैं- 'एक मुनि का, एक श्रावक का और एक आर्यिका का या श्राविका का। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने दर्शनपाहुड में कहा है-जैनियों के चौथा लिंग नहीं है-

"चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।"

आज हमारा कितना सौभाग्य है कि कुन्दकुन्ददेव ने, समन्तभद्र स्वामी ने, पूज्यपादस्वामी आदि अनेक आचार्यों ने इस वेश को धारण किया, कितने बड़े साहस का काम किया। सांसारिक वेश को उतार देना भी बहुत सौभाग्य की बात है। अनेक सन्त हुए और बीच में ऐसा भी काल आया, जिसमें सन्तों के दर्शन दुर्लभ हो गये थे। जैसे मैंने कल कहा था कि दौलतराम जी, टोडरमल जी, बनारसीदास जी, ये सब तरसते रहे। जिन लिंग को देखना चाहते थे लेकिन केवल शास्त्रों को देखकर के रह जाना पड़ा उन्हें। यहाँ तक भी कहने में आता है कि टोडरमल जी के जमाने में धवला, जयधवला, महाबन्ध का दर्शन तक नहीं हो सका। पढ़ना चाहते थे वे। उन्होंने लिखा है कि मैने गोम्मटसार को पढ़ा उसकी टीका के माध्यम से। उसमें भी उन्होने लिखा-केशववर्णी की टीका नहीं होती तो हम गोम्मट का रहस्य नहीं समझ सकते थे। ऐसे-ऐसे साधकों ने इस जिनवाणी की सेवा करते हुए केवल सेवा ही नहीं, किन्तु इस वेश को भी धारण कर अपने को धन्य किया। कल पण्डितजी भी कह रहे थे कि हमने भी अपने जीवन में जिनवाणी की सेवा करने का इतना अवसर प्राप्त किया। किन्तु मैं समझता हूँ कि आज दीक्षा-कल्याणक का दिन है, पण्डितजी! **जिनवाणी की सेवा तो जिन लिंग धारण करके ही करना सर्वोत्तम है।** यदि आप जैसे विद्वान् जिन लिंग धारण कर इस तरह सेवा करें तो सही सेवा होगी जिनवाणी की। धर्म की प्रभावना भी होगी।

बात ऐसी है जिनलिंग की महिमा कहाँ तक गायी जाये, जहाँ तक गायें, जितनी गावें उतनी ही आनन्द की लहर भीतर-भीतर आती जाती है। एक उदाहरण देता हूँ-

एक सन्त के पास परिवार सहित एक सेठ जी आते हैं। दर्शन करते हैं। पूजन करते हैं। जो कुछ भी करना या कर लिया। इसके उपरान्त प्रार्थना करते हैं कि भगवन्! संसार का स्वरूप बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। कारण, हमें समझ में आ गया है, लेकिन अब मुझे मुक्ति का स्वरूप बताओ? लोग मुझसे भी पूछते हैं कि महाराज! आपको वैराग्य कैसे हुआ, मेरी समझ में नहीं आता, चारों ओर चकाचौंध है विषयों की और आपको वैराग्य कैसे? हम जानना चाहते हैं। आपने न घर देखा, न बार, न कोई विवाह हुआ, कुछ समझ में नहीं आता, क्या जानकर के आपने घर छोड़ दिया? "छोड़ने को क्या, क्या छोड़ा? कुछ था ही नहीं मेरे पास"- हमने कहा। समझदारी की बात तो मैं यह मानता हूँ- कहना चाहता हूँ कि जो फंसे हुए हैं, उनके मुख को देखकर के मैं भाग आया। कोई भी दिखता है, हँसता हुआ नहीं दीखता। रोता ही रहता है, अपना रोना ही रोता है। मैं समझता हूँ कि बहुत अच्छी बात है जो हम फंसे नहीं। यहाँ से दूर चलिये, इसकी क्या आवश्यकता है? पढ़ने की, लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, अनुभव की कभी कोई आवश्यकता नहीं, जो अनुभव कर रहे हैं वही टेलीविजन (मुखमुद्रा) हम देख रहे हैं, इनको देख लो। इनकी समस्या समझ लो, बस अपने लिए वहीं रास्ता बन गया। तो वह कहता है कि मुक्ति का स्वरूप बताओ। किस प्रकार इनसे छुटकारा पाऊं? सन्त कहते हैं- कुछ नहीं, सो जाओ। सो जाओ, कल आना "जैसी आज्ञा"- कहकर चला गया सेठ। घर पर सेठजी ने एक तोता बहुत ही लाड-प्यार से पाल रखा था। उसने पूछा- आज कहाँ गये थे सेठजी! महाराज जी? आये थे उनके पास उपदेश सुनने गया था- सेठ ने कहा। क्या कहा महाराज ने- तोते ने पूछा। सेठ ने कहा- उन्होंने कुछ नहीं कहा, सिवा इसके कि "कल आना"। लेकिन आज क्या करना? तोते ने पूछा। सो जा- सेठ ने कहा। अच्छी बात है। दूसरे दिन सेठ पुनः महाराज के पास पहुँच गया। क्यों, क्या बात है?- महाराज ने पूछा। महाराज आपने तो कहा था- आज सो जा, कल आ जाना, इसलिए आ गया सेठ बोला अरे! मालूम नहीं पड़ा, यही तो प्रवचन था- महाराज ने समझाया। सोने का प्रवचन था? **हां..... हां! "जो व्यवहार में सोता है वह निश्चय में जागता है और जो निश्चय में सोता है वह व्यवहार में जागता है।"** अब बात उसे समझ में आ गयी थी। उपदेश के बाद घर गया तो देखा तोता तो बिल्कुल अचेत पड़ा है, पिंजरे में। अरे! यह क्या हो गया? महाराज जी ने उपदेश बहुत

अच्छा दिया- अच्छा समझाया। मैं इसको भी बता देता, लेकिन यह क्या हो गया? मर गया, यह तो मर गया। हे भगवान् क्या हो गया? इस प्रकार करते हुए पिंजरे का दरवाजा खोलकर के उसको देखता है, बिल्कुल अचेत है, ओऽहो! यूं ही नीचे रख देता है तो वह उड़ जाता है और एक खिड़की के ऊपर जा कर बैठ जाता है, और कहता है, महाराज ने बहुत अच्छा उपदेश सुनाया। बहुत अच्छा सुनाया। कैसे सुनाया?-सेठ ने कहा। आपने तो कहा था, आज सो जा- तोते ने कहा।

रहस्य को सेठ ने अब समझ लिया। **"एक बार सो जाओ, मुक्ति मिल जायेगी।" लेकिन "सोना" कैसे? मखमल के गद्दे बिछाकर के नहीं। एयरकंडीशन में नहीं, बल्कि शरीर तो सो जाए और आत्मा अप्रमत्त रह जाए।** आज का विज्ञान क्या कहता है? आत्मा को सुलाओ ताकि रेस्ट मिल जाए, इस शरीर को। मतलब क्या? यही कि चिन्ताओं से, विचारों से, विकल्पों से छुट्टी दे दो-

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए।द्र.सं.48॥

आत्मा के ध्यान की प्रसिद्धि के लिए मन की एकाग्रता अनिवार्य है। मन को एकाग्र करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष मत करो। इतना ही पर्याप्त है।

मोक्षमार्ग यह है और संसार मार्ग यह है। कौन सा आपको इष्ट है? आप चुन सकते हैं। जबरदस्ती किसी को नहीं दिया जा सकता। जबरदस्ती से मार्ग ही सम्भव नहीं। स्वयं जो अंगीकार करे, उसी का ये मार्ग और जो अंगीकार करता है उसको हजारों व्यवधान आ जाते हैं। व्यवधान आने पर आचार्य कहते हैं कि वह सारे के सारे व्यवधान शरीर रूपी पहाड़ के ऊपर टूट सकते हैं, लेकिन आत्माराम के ऊपर उसका कोई भी स्पर्श तक नहीं हो सकता है। यही एक मोक्षमार्ग है। इस मोक्षमार्ग की कहां तक प्रशंसा करूँ, अपरम्पार है।

६

दो दिन आपके थे, अब तीन दिन हमारे हैं। हमारा यह प्रथम दिन है। आज ज्यों ही ऋषभकुमार ने दीक्षा अंगीकार की, त्यों ही परिग्रह और उपसर्गों का कार्यक्रम प्रारंभ हो गया। इधर-उधर से बूंदाबांदी भी प्रारम्भ हो गई। **आप लोग भीतर ही भीतर प्रार्थना कर रहे होंगे कि पानी रुक जाए भगवान्,**

लेकिन एक प्राणी (दीक्षितसंयमी) कहता है- जो भी परीक्षा लेनी हो, ले लो। उसके लिए ही खड़ा हुआ हूँ। यह जीवन संघर्षमय है, इसे बहुत हर्ष के साथ अपनाया है।

तपः कल्याणक- अभिनिष्क्रमण में, घर से निकाला नहीं गया किन्तु निकालने से पूर्व ही निकल गये। जो निकलते नहीं, उनकी फजीती इस प्रकार की होगी कि एक दिन चार व्यक्ति मिलकर कन्धे पर रख चौखट से बाहर निकाल देंगे। इसमें किसी भी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं। जो हमारा घर नहीं, उसमें हम छिपकर बैठे और उसमें किसी भी प्रकार से रहने का प्रयास करें, तो भी उसमें रह पाना संभव नहीं। इसीलिए-

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेषां वसुधावधूं सतीम्
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुच्युतः॥

आचार्य समन्तभद्र ने स्वंयभूस्तोत्र की रचना करते हुए आदिनाथ की स्तुति में कहा- भगवन्! आपने सागर तक फैली धरती को ही नहीं छोड़ा किन्तु जो प्यारी-प्यारी सुनन्दा-नन्दा थी, उनको भी छोड़ दिया। जिसके साथ गांठ पड़ी थी। उस गांठ को उन्होंने खोलने का प्रयास किया, जब नहीं खुली तो कैंची से काट दिया। अब कोई मतलब नहीं। जिसके साथ बड़े प्यार से सम्बन्ध हुआ था, उसको तोड़ दिया। आज अब किसी और के साथ सम्बन्ध हो गया। यह क्यों हुआ? अभी तक शान्त-सरोवर था। उसमें किसी ने एक कंकर पटक दिया, कंकर नीचे चला गया। उधर तल तक पहुँचा, इधर तट पर लहर आ गई। नीचे से कंकर ने संकेत भेजना शुरू कर दिये, बुलबुले के माध्यम से। यानि भीतर क्रान्ति हो गई। भीतर जल क्रान्ति होती है, तब इस प्रकार के बुलबुले निकलते हैं। जब बुलबुला निकलता है तो वह आपको बुला-बुला कर कहता है- "जीवन बहुत थोड़ा है। प्रतिसमय नष्ट हो रहा है, ऐसी स्थिति में आपके भीतर उसके प्रति जो अमरत्व की भावना है, वह अयथार्थ है।"

राजा राणाछत्रपति, हथियन के असवार।
मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार॥

जब मरने का, जीवन के अवसान का समय आयेगा,तब हम कुछ भी नहीं कर पायेंगे। मरण-मृत्यु आने से पहले हमें जागृत होना है। छत्र, चंबर और सम्पदा कुछ भी कार्यकारी नहीं होगी। ये तो इन्द्र-धनुष, आकाश की लाली और तृण-बिन्दु की भांति क्षणभंगुर हैं। बहुत जल्दी मिटने वाले हैं और बहुत जल्दी पैदा भी होते हैं। जो जल्दी पैदा होता है, वही जल्दी मिट भी

जाता है। लेकिन अब ऐसी पैदाइश की जाए, जो अनन्तकाल तक रहे। ऐसा उत्पाद हो, जो उत्पात को ही समाप्त कर दे। ऐसा कौन-सा उत्पाद है? वह एक ही उत्पाद है? जिसे भीतर जाकर देख सकते हैं, जान सकते हैं। ऊपर बहुत खलबली मच रही हो और यदि भीतर में शान्त हो तो ऊपर की खलबली भीतर की शान्ति में कोई बाधक के रूप में कार्यकारी नहीं। अन्दर की शान्ति बारह भावनाओं का फल है। यह समझ वह (मुनि ऋषभनाथ) ध्यान में बैठ गए।

सोलहकारण भावनाओं के द्वारा जगत् का कल्याण करने का एक संकल्प हुआ, एक बहुत बड़ी इच्छा शक्ति, जो संसार की ओर नहीं, किन्तु कल्याण की ओर खींच रही थी, उत्पन्न हुई। उस दौरान भावना भायी और फल यह निकला कि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ। कब हो गया, उन्हें ज्ञात नहीं। किस रूप में है? ज्ञात नहीं। फिर भी समय पर काम करने वाला है। अभी भी सत्ता में है, लेकिन सत्ता में होकर भी, जिस प्रकार वह कंकर बुलबुले के द्वारा संकेत भेज देता है, उसी प्रकार उसने दिया, कि अब घर-बार छोड़ दीजिए। वन की ओर रवाना हो जाइये। इन्द्र, जो कि अभी तक चरणों में रहा, कहता है कि आप ने नन्दा-सुनन्दा को छोड़ा। राज्य-पाट छोड़ा और सब कुछ छोड़ दो। लेकिन, कम से कम मुझे तो मत छोड़ो। मैंने आपको पाला है, दूध पिलाया है, ऐशोआराम की चीजें दी हैं। अतः जब तक रहो तब तक मुझे सेवा का अवसर प्रदान करते रहना चाहिए। तब जवाब मिलता है- मैं अकेला हूँ! मैं अब कुमार के रूप में, राजा के रूप में अथवा किसी अन्य रूप में भी नहीं हूँ। मुझे अब वन जाना है, अकेले ही जाना है। साथ में लेकर जाने वाला अब नहीं, यदि आप स्वयं आ जाए तो कोई आवश्यकता अथवा विरोध भी नहीं। मतलब यह हुआ कि अभी तक अनेक व्यक्तियों के बीच में बैठा और अब अकेला होने का भाव क्यों हुआ? इसी को कहने हैं मुमुक्षुपना-

लक्ष्मीविभवसर्वस्वं, मुमुक्षोश्चक्रलांछनम्।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते, जरत्तृणमिवाभवत्॥

मुमुक्षुपन की किरण जब फूट जाती है हृदय में, तब बुभुक्षुपन की सारी की सारी ज्वाला शान्त हो जाती है। अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है। सूर्य के आने से पूर्व की प्रभात बेला आ जाती है। इसी को कहते हैं मुमुक्षुपन। तब लक्ष्मी, विभव, साम्राज्य, सार्वभौमपना ये जितने भी हैं, सब "जरत्तृणवत्"- जीर्ण-शीर्ण एक तृण के समान देखने में आते हैं।

आपको यदि रास्ते पर पीली मिट्टी देखने में आ जाती है तो आपको यही नजर आता है कि पीली है तो सोना होना चाहिए? अब भीतर ही भीतर लहर आ जाती है कि झुककर देखने में क्या बात है? झुकलो! भले ही कमर में दर्द हो। झुककर जब हाथ में लेता है तो लगता है कि कुछ ऐसी ही है, सोना नहीं है, तो पटक देता है और यदि सोना हुआ तो उस मिट्टी के मिलने से, ऐसा समझता है कि आज मेरा अहोभाग्य है, भगवान् का दर्शन किया था, इसीलिए ऐसा हुआ। लेकिन यहाँ भगवान् ने तो आत्मसम्पदा प्राप्ति के लिए सब कुछ छोड़ दिया, जीर्ण-शीर्ण तृण समझकर। उसे छोड़ दिया, अर्थात् उसकी तरफ से मुख को मोड़ लिया। प्रत्युपन्नमति इसी को कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार में कहा है-

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं, जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं॥

यदि तुम दुःख से मुक्ति चाहते हो तो श्रामण्य को अंगीकार करो। श्रामण्य के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होने वाला, दुःख से मुक्ति तीन काल में भी संभव नहीं। "यू शुड अडोप्ट इक्वनमिटि वेयर वाइ निर्वाना इज अटेन्ड।" श्रामण्य के द्वारा या समता के द्वारा तो मुक्ति का लाभ मिलता है भुक्ति का नहीं। भुक्ति तो अनन्तकाल से मिलती जा रही है। सुबह खा लिया तो शाम को फिर भूख आ गई, अन्थौ (सन्धा भोजन) कर लिया तो नाश्ते की चिन्ता, कब नींद खुले और कब नाश्ता करें? अरे! नाश्ता में आस्था रखने वालो! थोड़ा विचारो-सोचो तो कि मुक्ति का कौन-सा रास्ता है। मुक्ति की बात तो तब चलती है जबकि भुक्ति की कोई भी वस्तु नहीं रहती है।

जब श्रमण बनने चले जाते हैं, श्रमण परिषद् के पास, तब कहते हैं कि मुझे दुःख से मुक्ति दिलाकर अनुग्रहीत करो स्वामिन्! मैं महाभटका हुआ, अनाथ-सा व्यक्ति हूँ। अब आपके बिना कोई रास्ता नहीं, कोई जगह नहीं है। अतः आचार्यों ने कहा-तुम दुःख से मुक्ति चाहते हो तो तुम्हें श्रमण बनना होगा। श्रमणता क्या है स्वामिन्! अब बताते हैं कि श्रमणता क्या है और श्रमण बनने के पूर्व किस-किस से पूछता है। प्रवचनसार में इसका बहुत अच्छा वर्णन दिया गया है। वह श्रमणार्थी सर्वप्रथम माँ के पास आकर कहता है- माँ! तू मेरी सही मां नहीं है। मेरी मां तो शुद्धचैतन्य आत्मा है। अब उसी के द्वारा पालन-पोषण होगा। आप तो इस जड़मय शरीर की मां हैं, फिर भी मैं व्यवहार से आपको कहने आया हूँ कि यदि आपके अन्दर बैठी हुई चेतन

आत्मा जाग जाए तो बहुत-अच्छा होगा। फिर तो आप भी मां बन जायेंगी। नहीं तो, मैं जा रहा हूँ। अब नकली मां के पास रहना अच्छा नहीं लगता। अब आप रोयें या धोयें, कुछ भी करें, पर मैं चल रहा हूँ। अब पिता के पास चला जाता है और कहता है- पिताजी! आपने बहुत बड़ा उपकार किया, लेकिन एक बात है, वह सभी जड़मय शरीर का किया। किन्तु आज मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ कि मेरे पिता तो शुद्ध चैतन्य-आत्मतत्त्व हैं, अन्य कोई नहीं। उसी के द्वारा ही मेरी रक्षा होती आ रही है। इसलिए मेरा चेतन आत्मा ही पिता है और चेतना मां। इतना कह उन्हें भी छोड़कर चल देता है। इसके बाद सबको कहता-कहता, बीच में ही जिसके साथ सम्बन्ध हो गया था, उसके पास जाकर कहता है- प्रिये! आज तक मुझे यही ज्ञात था कि तुम ही मेरी प्रिया हो पत्नी हो, लेकिन नहीं अब मुझे ज्ञात हो गया कि चेतना ही मेरी एकमात्र सही प्रिया है, पत्नी है। वह ऐसी पत्नी नहीं है जो बीच में ही छोड़कर चली जाये। वह तो मेरे साथ सदा रहने वाली है। वही तो शुद्ध चेतना मेरी पत्नी है। बस, एक के द्वारा ही सारे सम्बन्ध है। वही पिता है, वही मां। वही पति है, वही पत्नी। वही बहिन भी है और भाई भी। जो कुछ भी है उसी एकमात्र से मेरा नाता है। इसके अलावा किसी से नहीं।

इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सबसे पूछना आवश्यक है। घबराओ नहीं, आप लोगों के जितने भी सम्बन्धी हैं, वे कभी भी आपको आज्ञा नहीं दे सकते। हां! आपको ही इस प्रकार का कार्यक्रम बनाना होगा, ऐसी उपेक्षा दृष्टि रखनी होगी, भीतर ही भीतर देखना आरम्भ करना होगा कि सभी अपने-अपने काम में जुट जाएं और आप उपेक्षा कर चल दें।

भगवान् को आपने कभी देखा है, क्या कर रहे हैं? कौन आता है, कौन जाता है, यह देख रहे हैं? नहीं। लाखों, करोड़ों ही नहीं, जितनी भी जनता आ जाये और सारी की सारी जनता उनको देखने का प्रयास करती है किन्तु वह जनता को कभी नहीं देखते। उनकी दृष्टि नासा पर है, उसमें किसी प्रकार का अन्तर आने वाला नहीं। "नासादृष्टि" का मतलब क्या? न आशा, नासा। किसी भी प्रकार की आशा नहीं रही, इसी का नाम नासा है। यदि उनकी दृष्टि अन्यत्र चली गई तो समझिये, नियम से आशा है। वह आशा, हमेशा निराशा में ही घुलती गई, यह अतीतकाल का इतिहास है।

न भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा,
भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा।

ज्ञानी जिन्हें विषय तो विष दीखतें हैं,
वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं।।

वे ज्ञानी हैं। वे ध्यानी हैं। वे महान् तपस्वी हैं। वे स्वरूप-निष्ठ आत्माएं है, जिन्हें भूत-भविष्य के भोगों की इच्छा-स्मृति नहीं है। मैंने खाया था इसकी कोई स्मृति नहीं है। बहुत अच्छी बात सुनी थी, एक बार और सुना दो तो अच्छा है। अनागत की कोई इच्छा नहीं। जब अनागत की कोई इच्छा नहीं और अतीत की स्मृति नहीं तो वर्तमान में भोगों की फजीती हो जाती है। वह उन्हें लात मार देता है। इसी को कहते हैं-समयसार में हेय-बुद्धि। किसके प्रति हेय-बुद्धि? भोगोपभोग के प्रति। भोगोपभोग को लात मारना, खेल नहीं है। जहाँ भोगोपभोग सामग्री हमें लात मार देती है, फिर भी हम उसके पीछे चले जाते हैं। लेकिन ज्ञानी की यह दशा, यह परिभाषा अद्वितीय है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव, जिनके दर्शनमात्र से वैराग्यभाव सामने आ जाता है। जिनके स्वरूप को देखते ही अपना रूप देखनें में आ जाता है।

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताको सुनिके भवि प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानी।।

वह मुद्रा, जिसके दर्शन करने से हमारा स्वरूप सामने आ जाए। आत्मा का क्या भाव है, वह ज्ञात हो जाये। अनन्तकाल व्यतीत हो गया, आज तक स्वरूप का ज्ञान क्यों नहीं हुआ? वैराग्य को वैराग्य से ही देखा जाता है। **"विरागी की दृष्टि रागी को देखकर भी, राग में विरागता का अनुभव करती है और रागी की दृष्टि विरागता को देख, विरागता में भी राग का अनुभव करती है।" यह किसका दोष है? यह किसका फल है, इसका कोई क्या कर सकता है, जिसके पेट में जो है वही तो डकार में आयेगा।**

दो टैंक थे तैरने को। एक में दूध था और एक में मट्ठा। मही था। उन टैंकों में दो व्यक्ति तैर रहे थे। दोनों को डकारें आई। ज्यों ही डकार आई, एक ने कहा- वाह-वाह, बहुत अच्छा बहुत अच्छा, क्या सुवास और सुरस है? भगवन्! अम्लपित्त जैसी डकार आ रही है, दूसरे ने कहा। अरे क्या बात हो गई। तुम तो दूध के टैंक में हो और अम्लपित्त की बात कर रहे हो? बात ही समझ में नहीं आती। दूसरा कहता है- तुम तो मट्ठे के टैंक में हो

और फिर भी वाह-वाह कर रहे हो? ऐसी कौन-सी बात है? बात ऐसी है कि आपके टैंक में दूध परन्तु पेट रूपी टैंक में महेरी खा रखी है, इसलिए उसी की डकारें आ रहीं हैं और हम यद्यपि मट्ठे के टैंक में हैं लेकिन मैंने क्या खा रखा है, मालूम है? जिसमें बादाम-पिस्ता मिलाई गई ऐसी खीर उड़ाकर आया हूँ, तब डकार कौन-सी, किस प्रकार की आयेगी?

बात ऐसी ही है कि समयसार की चर्चा करते-करते भी अभी डकार खट्टी आ रही है। इसका मतलब यही है, भीतर कुछ और ही खाया है। मैं तो यही सोचता हूँ कि इसको (समयसार) तो पी लेना चाहिए। जिससे भीतर जाने के उपरान्त जब कभी डकार आयेगी तो उसकी गन्ध से, जहाँ तक पहुँचेगी, जिस तक पहुँचेगी, वह संतुष्ट हो जाएगा। उसका स्पर्श मिलते ही सन्तुष्ट हो जाएगा। उसकी मुख-मुद्रा देखने से भी सन्तुष्टि होगी। लोग पूछते फिरेंगे कि क्या-क्या खा रखा है, कुछ तो बता दो?

सफेद मात्र देखकर सन्तुष्ट मत होइये, परीक्षा भी करो, कम से कम। कारण दोनों सफेद द्रव्य हैं, मट्ठा भी और दूध भी। लेकिन दोनों के गुण-धर्म अलग-अलग हैं। स्वाद लीजिए, उसे चखने की आवश्यकता है? आज लखने की आवश्यकता है, लिखने की नहीं? लिखनहारा तो बाहर ही बाहर घूमता है, शब्दों को चुनने में लगा रहता है। बाहर आने पर भीतर का नाता टूट जाता है, जो भीतर की ओर दृष्टि रखता है वह धन्य है।

आज ऋषभकुमार को वैराग्य हुआ। उनकी दृष्टि, जो कि पर की ओर थी, अपनी ओर आ गई। अपनी ओर क्या, अपने में ही स्थिर होने को है। अपने में स्थिर होने के लिए बाहरी पदार्थों का सम्बन्ध तोड़ना आवश्यक होता है। जब तक बाहरी द्रव्यों के साथ सम्बन्ध रहेगा, वह भी मोह सम्बन्धी तो दु:ख और परेशानी ही पैदा करेगा। किन्तु स्वस्थ होने पर दु:ख और परेशानी का बिल्कुल अभाव हो जाएगा। स्वस्थ होने के लिए बाहरी चकाचौंध से दूर होना अनिवार्य है। इसलिए समयसार में यह गाथा अद्वितीय ही लिखी गई है-

उप्पण्णोदयभोगे विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी।

वह ज्ञानी उदय में आई हुई भोगोपभोग सामग्री को त्याग कर देता है, हेय बुद्धि से देखता है। उन भोगों की स्मृति तो बहुत दूर की बात, आकांक्षा की बात भी बहुत दूर की होगी, अब तो अनाप-सनाप-सम्पदा जो मिली है उसे क[illegible] यह तो आपदा का मूल है। यह अर्थ अनर्थ का

मूल है, परमार्थ अलग वस्तु है और अर्थ अलग वस्तु। मेरा अर्थ, मेरा पदार्थ मेरे पास है, उसके अलावा मेरा कुछ भी नहीं। तिल-तुषमात्र भी मेरा नहीं है। मैं तो एकाकी यात्री हूँ। कहाँ जाऊँगा? कोई इच्छा भी नहीं। किससे मिलना? किसी से कोई मतलब नहीं। अब मुक्ति की इच्छा भी नहीं। इच्छा मात्र से भी कोई मतलब नहीं। बस, अपने आप में रम जाने के लिए तत्पर हूँ।

मुमुक्षु को अकेला होना अनिवार्य है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने दो स्थानों पर "मुमुक्षु" संज्ञा दी। एक- ऋषभनाथ के दीक्षा के समय और दूसरी अरनाथ भगवान् जब चक्रवर्तित्व पद छोड़कर चले गये तब। उस समय अरनाथ भगवान् को सब कुछ क्षणभंगुर प्रतीत हुआ, दु:ख का मूल कारण प्रतीत हुआ, इसीलिए उन्होंने उसको छोड़ दिया। ऐसा मुमुक्षु ही ज्ञानी-वैरागी होता है। उसी का दर्शन करना चाहिए। रागी का दर्शन करने से कभी भी सुख शान्ति का, वैभव-आनन्द का अनुभव होने वाला नहीं।

ऋषभनाथ भगवान् के जमाने की बात है। चक्रवर्ती भरत के कुछ पुत्र थे, जो कि निगोद से निकलकर आये थे, (बीच में एक-आध त्रस-पर्याय सम्भव है)। सभी के सभी बोलते नहीं थे। चक्रवर्ती को बहुत चिन्ता हुई। उन्होंने एक दिन आदिनाथ भगवान् से समवसरण में जाकर पूछा- प्रभो! तीर्थकरों की वंशंपरम्परा में ऐसे कोई पंगु, लूला, बहरा और अपंग नहीं होते, लेकिन मेरे कुछ पुत्र तो ऐसे हैं जो बोलते ही नहीं। इसका क्या कारण है? हमें तो दिमाग में खराबी नजर आती है। मुझे जब अड़ोसी-पड़ोसी उलाहना देते हैं कि- "तुम्हारे बच्चे गूंगे हैं, बहरे हैं, तब बहुत पीड़ा होती है मैं क्या करूँ? भगवान् वृषभनाथ ने कहा- वे गूंगे और बहरे नहीं हैं, बल्कि तुम ही बहरे हो। भगवान् कैसे बहरे हैं हम? बहरे इसलिए कि उनकी भाषा तुम्हें ज्ञात नहीं। देखो, तुम्हारे सामने ही वे हमसे बोलेंगे। उन्होंने कहा- सब लोग राजपाट में घुसते चले जा रहे हैं। झगड़ा तुम्हारे सामने है। कलह हो रहा है। भाई-भाई में लड़ाई हो रही है, इससे इनको वैराग्य हुआ। अत: सब कुछ छोड़कर सभी पुत्र भगवान् के पास चल दिये और कहा- हे प्रभो! जो आपका रूप सो हमारा रूप, जो आपकी जाति सो हमारी जाति, बस हम, आपकी जाति में मिल जाना चाहते हैं। 'ऊँ नम: सिद्धेभ्य:' कह पंचमुष्ठी केशलौंचकर बैठ गये। तब चक्रवर्ती भरत ने कहा- वे गूगें नहीं थे क्या? नहीं! इन्हें जातिस्मरण हो गया था। इसलिए नहीं बोलते थे।

बन्धुओं! मैं जातिस्मरण की बात इसलिए कह रहा हूँ कि कुछ आपको

भी स्मरण आ जाए। जातिस्मरण की बात, जिससे नारकियों के लिए सम्यग्दर्शन होता है, उन्हें वहाँ पर वेदना के अतिरेक से भी सम्यग्दर्शन होता है। परन्तु मनुष्यों को ना जातिस्मरण से और ना ही दु:ख का अतिरेक होने से होता है। मनुष्य-भव में तो जिनबिम्ब के दर्शन से, जिनवाणी सुनने/पढ़ने आदि से ही होता है। मनुष्य को जातिस्मरण और वेदनानुभव से सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता? तो आचार्यों ने कहा- यह जाति की ओर देखता है। लेकिन जो भव्य है, सम्यग्दृष्टि है वह उससे दूर रहता है। देखो भरत! तुम्हारे पुत्रों को बोलने की शक्ति होते हुए मात्र पर्याय को देखकर तुम्हारे साथ बोलना पसन्द नहीं, बोलने की इच्छा नहीं उनकी, क्योंकि कामदेव के ऊपर चक्र चलाने वाले हैं आप, भाई के ऊपर चक्र चलाने वाले हैं। सर्वार्थसिद्धि से तो उतरे हुए हो और धार्मिक सीमा का भी उल्लंघन करते हो। दोनों तद्भव मोक्षमागी हो। अत: कामदेव एवं चक्रवर्ती दोनों ही अन्त में फकीरी (मुनि पद) अपनाकर मोक्ष को चले जाओगे। इसीलिए मन्त्रियों ने कहा- तुम दोनों ही लड़ो, हम देख लेते हैं, कौन पास होता है। चक्रवर्ती भरत तीनों में फेल हो गये और चौथे में भी। युद्ध तो तीन ही थे, चौथा कौन-सा था? चौथा यह था कि सीमा का उल्लंघन नहीं करना, धर्म युद्ध करना। उन्होंने उसका भी उल्लंघन कर चक्र का प्रयोग कर दिया। छोड़ा नहीं, कसर बाकी नहीं रही।

सर्वार्थसिद्धि से उतरे थे। तीनों के साथ अनुगामी अबधिज्ञान आया था। तीन में ऋषभनाथ तो दीक्षित हो गये, लेकिन इन दोनों को अवधिज्ञान की कुछ याद भी नहीं, फिर जातिस्मरण तो बहुत दूर की बात रही। अपना धन, अपना ज्ञान, वर्तमान में हम कहाँ से आये हैं? यह तक पता नहीं है। यह ज्ञान होना चाहिए कि अपने परिवार पर चक्र का कोई प्रभाव नहीं होता। लेकिन बुद्धि भ्रष्ट हो गई, धन के, मान-प्रतिष्ठा के पीछे। किन्तु बाहुबली का पुण्य बहुत जोरदार था, इसलिए चक्र ने परिक्रमा लगाई और रुक गया। इस प्रकार बाहुबली ने तीनों युद्धों में तो हरा ही दिया और चौथे में भी सबके सामने नीचा दिखा दिया।

इस सब रहस्य को देख, अविनश्वर आत्मा का ज्ञान उन सब बच्चों को हो गया। इसलिए बोले नहीं, किसी के साथ। जब तक उम्र पूर्ण नहीं हो जाती, योग्यता नहीं आती, तब तक के लिए मौन और बाद में दीक्षा ले ली। ऋषभनाथ भगवान् ने ऐसा जब कहा, तब कहीं चक्रवर्ती को ज्ञात हुआ कि यह भी सम्भव है। मैं तो यह सोचता हूँ कि पिताजी सम्यग्दृष्टि और चक्रवर्ती

भी थे तो कम से कम पिताजी के चरण छू लेने चाहिए थे, लेकिन नहीं। अभी बहुत छोटे हैं, दूध के दांत भी नहीं टूटे, पर उन्होंने एक बात समझने योग्य कही- रागी के साथ हम बोलने वाले नहीं! हम तो वैरागी-वीतरागी सन्तों के साथ बोलेंगे। यह बहुत अद्‌भुत परिणाम जातिस्मरण का है। इस कथा को सुनकर ऐसा लगने लग जाता है कि दूसरे को देखना बंदकर केवल अपनी आत्मा की ओर लगना चाहिए। भीतर जो बात रहेगी वही तो फूटती हुई बाहर आयेगी।

एक बच्चा था। वह काफी बदमाश था। स्कूल नहीं जाता था, ऐसे ही घूम-फिरकर आ जाता था। एक दिन माता-पिता को पता चला कि यह दिन खराब करता रहता है। अतः फेल हो जायेगा तो मास्टर को कहा- इसे प्रतिदिन उपस्थित रखो और अच्छी शिक्षा दो। वह बालक होशियार भी था और बदमाश भी। एक दिन मास्टर ने पूछा- ५ और ५ कितने होते हैं? उसने कहा- १० रोटी। ४ और ४ कितने होते हैं? ८ रोटी। ३ और ३ कितने होते हैं? ६ रोटी। साढ़े तीन और साढ़े तीन कितने? सात रोटी। तब मास्टर ने सोचा, यह रोटी क्यों बोल रहा है? क्या खाना खाकर नहीं आया? या मम्मी ने रोटी नहीं खिलाई? मास्टर ने पूछा- क्या रोटी नहीं खाई? उसने कहा-जी, नहीं खाई। मम्मी ने कहा है, तब तक खाना नहीं, जब तक स्कूल से पढ़कर नहीं आते। इससे ज्ञात होता है कि सच बोल रहा है, किन्तु रोटी नहीं भूल रहा है। हम समयसार की कितनी ही गाथाएं याद कर लें, लेकिन हमारे भीतर जो अभिप्राय है, वह याद आता जाता है। हमारे अभिप्राय के अनुसार ही कदम बढ़ते हैं, दृष्टि भले ही कहीं हो। बन्धुओं! आप लोग "रिवर्स" में गाड़ी चलाते हैं, अब भले ही ड्राइवर सामने देख रहा हो, लेकिन सामने के दर्पण में जो पीछे का विम्ब है, उसे देखता है। देखने को तो लगता है कि दृष्टि सामने है परन्तु दृष्टि नियम से रिवर्स की ओर ही रहती है। इसी तरह हम दृष्टि भी इन विषयों से रिवर्स कर लें, कैसे हो, रिवर्स होना ही बड़ी बात है।

जब ऋषभनाथ के जीवन में घटना घटी तो उन्होंने अपनी दृष्टि को मोड़ लिया, अपने-आप में समेट लिया। सबको उन्होंने समाप्त नहीं किया, किन्तु अपने को समेट लिया। यह अद्‌भुत कार्य है। हम दुनिया को समेटकर कार्य करना चाहते हैं, जो "ण भूदो ण भविस्सदि।"

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधाबधूं सतीम्।
[illegible]-कुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः॥

भगवन्! आप अपने पद से च्युत नहीं हुए। "ज्ञानी जीव अपने पद से च्युत नहीं होते। यही उनका ज्ञानीपना है।" मात्र जानने वाले को ज्ञानी नहीं कहते। ज्ञानी का अर्थ अच्छा खोल दिया- जो राग नहीं करे, द्वेष नहीं करे, मोह नहीं करे, मद-मत्सर नहीं करे, समता का अभाव न हो। उन्हीं का नाम श्रमण है। वे श्रमण बन चुके, इसलिए अपने पद को कभी छोड़ेंगे नहीं। ऐसे अच्युत और सहिष्णु हैं कि कितने भी उपसर्ग आ जाए तो भी चलायमान नहीं होंगे। **मोक्षमार्ग परिषह और उपसर्गों के रास्तों से गुजरता है-**

"मार्गच्यवननिर्जरार्थं परिसोढ़व्याः परीषहाः"

मार्ग अर्थात् संवर मार्ग से च्युति-स्खलन न हो, गिरावट न हो इसलिए उपसर्ग और परीषह सहन करने की आदत/अभ्यास करना चाहिए। अब यह नहीं चलेगा कि उष्णता आ गई तो पंखा खोल लिया या कूलर चला दिया। यहाँ पर न कूलर ही होगा और न ही हीटर। यहाँ पर तो सभी वातानुकूल है और बातानुकूल भी। दोनों अनुकूल हैं। गर्मी पड़े तो निर्जरा, नहीं पड़े तो निर्जरा। उपसर्ग हो तो ज्यादा निर्जरा, नहीं हो तो भी निर्जरा। कोई प्रशंसा करे तो भी निर्जरा, निन्दा करे तो भी निर्जरा। कोई आये तो भी निर्जरा, नहीं आये तो भी निर्जरा। बड़ी अद्‌भुत बात हो गई। लोग आये तो अच्छा लगता है, नहीं आये तो अकेले कैसे बैठे? जो व्यक्ति भीड़ में रहने का आदि हो उसको यदि जेल में बन्द कर दिया जाये तो उसकी स्थिति एकदम बिगड़ जायेगी। कहो "वेट" कम हो जाएगा या कुछ और ही हो जाएगा। लेकिन जिसे जेल में ही रहने की आदत हो गई है, वह तो पहलवान होकर निकलेगा।

हमारे ऋषभनाथ का हाल भी इसी तरह का है कि उन्हें अब बाहर कही भी रहना हो उन्हें तो भीतर "पीस" है। आनन्द-सुख-शान्ति-चैन, सब कुछ अन्दर है। मैं अकेला हूँ तब बन्द करो या कुछ और, मुझे चैन ही मिलेगी, ऐसा सोचते है। बड़ी अद्‌भुत बात है, कहीं भी चले जायें, कैसी भी अवस्था आ जाए, **कैसा भी कर्म का उदय आ जाय, अब अनुकूल हो या प्रतिकूल। बल्कि विश्वास तो यह है कि अब नियम से कूल। किनारा मिलेगा। इसी को कहते हैं श्रामण्य। श्रमणता पाने के उपरान्त किसी भी प्रकार की कमी अनुभूत नहीं होना चाहिए। मात्र ज्ञान से पूर्ति करता रहता है। समयसार के संवराधिकार में कहा है-**

जह कणयमग्गितवियं पि कणयसहावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं॥

ज्ञानी अपने ज्ञानपने को नहीं छोड़ता, भले कितने धर्म के उदय कठोर से कठोरतम क्यों न आये। जिस प्रकार कनक को आप कैसे भी तपाते जाए, तपाते जाए, वह सोना और भी दकमता चला जाता है। वह अपने कनकत्व को, स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता, जयसेनस्वामी ने तो इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि- "पाण्डवादिवत्"। कौन पाण्डव? जो पाण्डव वनवास में भेजे गये थे, वे क्या? नहीं, नहीं। वे जो स्वयं अपनी तरफ से वनवास में आये थे, अर्थात् मुनि बनकर आये हैं और उनके शरीर पर तपे हुए लोहे की जंजीरें डाल दी गई, फिर भी शान्त है। ऐसे "पाण्डवादिवत्"। रत्नत्रय में भी तप के बिना चमक नहीं आती, रत्नत्रय को तपाना आवश्यक है। उसी से मुक्ति मिलती है। तपाराधना से ही मुक्ति मिलती है, रत्नत्रय से नहीं। जैसे- हम हलुवा बनाते हैं तो, मिश्री हो, आटा हो और घी हो। उन्हें अनुपात में मिला दो। उसमें और कुछ भी मिलाना हो तो मिला दो। लेकिन अभी हलुवा नहीं बनेगा। कब तक नहीं बनेगा? जब तक की नीचे से अग्नि का उसे पाक नहीं मिलेगा। ज्यों ही अग्नि की तपन पैदा होगी, त्यों ही तीनों चीजें मिलने लगेगी और मुलायम हलुवा तैयार हो जाएगा। इसी तरह रत्नत्रय रूप में तीनों जब तक भिन्न-भिन्न रहेंगे और तप का सहारा नहीं लेंगे तो ध्यान रखिये, कोटिपूर्व वर्ष तक भी चल जाए तब भी मुक्ति नहीं होगी। होगी तो तप से ही।

अभी एक बात पण्डित जी ने कही थी कि अन्तर्मुहूर्त में भरत चक्रवर्ती को केवल ज्ञान पैदा हो गया। बात बिल्कुल ठीक है, परन्तु मुक्ति क्यों नहीं मिली अन्तर्मुहूर्त में उन्हें? एक लाख पूर्व वर्ष तक उन्हें तप करना पड़ा। जितनी तपस्या ऋषभनाथ ने की, उतनी ही तपस्या भरतचक्रवर्ती ने की। अभी-अभी वाचना (खुरई में) चल रही थी, उसमें भंग आया था कि "अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान भले ही हो जाए परन्तु मुक्ति नहीं मिलती।" इसका अर्थ है कि केवलज्ञान अन्तिम स्टेज नहीं है, अन्तिम मंजिल नहीं है। वह तो एक प्रकार से बीच स्टेशन है जिसके उपरान्त मंजिल है। **केवलज्ञान मुक्ति से पूर्व बीच में अवश्य मिलेगा। केवलज्ञान होने के उपरान्त भी तो मोक्षमार्ग पूर्ण नहीं होता। इसलिए मुक्ति देने की क्षमता केवलज्ञान में नहीं। जिसके द्वारा मुक्ति मिलती है उसे उपादेय मानिये। मात्र तपाराधना के द्वारा मुक्ति होती है। वह अन्तर्मुहूर्त में मंजिल तक पहुँचा देती है देखिये,** भरत रह गये, ऋषभनाथ भी रह गये, परन्तु बाहुबली केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्वप्रथम मुक्ति के उद्घाटक बने। इस युग के आदि में पिताजी

और भाई से पहले, आगे जाकर दरवाजा खोल कर बैठ गये। बाद में पिताजी आये और भरत भी।

एक मजे की बात तो यह रही कि ऋषभनाथ भगवान् को भी बाहुबली के सिद्ध स्वरूप का चिन्तन करना पड़ा। भरत को भी करना पड़ा। जिसका जैसा पुरुषार्थ होता है उसको वैसा ही फल मिलता है। इसलिए हमारा लक्ष्य मंजिल का है, स्टेशन का नहीं। जैसे दिल्ली जाने के लिए आगरा भी एक स्टेशन आयेगा जो मंजिल नहीं है, मंजिल के निकट अवश्य है पर उससे भी आगे जाना है, दिल्ली अन्तिम स्टेशन एवं मंजिल के रूप में होगा। दिल्ली पहुँचते ही उतर जाइये और मस्त हो जाओ, साथ ही यह देखते रहें कि पीछे क्या-क्या हो रहा है। गजकुमार स्वामी जैसों के उदाहरण हमारे सामने हैं। वह बालावस्था में जब मात्र बारह वर्ष के थे, गोद में बैठने की क्षमता रखते थे। उस समय मात्र अन्तर्मुहूर्त में मुक्ति पा गये। वह भी केवलज्ञान, प्राप्त कर लेते हैं। हां! अन्तर्मुहूर्त में सब कुछ काम हो जाता है। एक और बड़ी बात कही गयी है कि जिसने आज तक त्रस पर्याय प्राप्त नहीं की, जिसे वेद की वेदनाओं का अनुभव नहीं, अभी निगोद से निकालकर आ रहा है और आठ साल का होते ही मुनिवर के व्रत से अन्तर्मुहूर्त में मुक्ति प्राप्त कर लेता है- ऐसा आगम का उल्लेख है। ऐसे उल्लेख अनन्त की संख्या में हैं, कोई भी अन्त वाला नहीं। अर्थात् ऐसे पुरुषार्थशील प्राणी अनन्त हो गये और होंगे। बस अब हमारे नम्बर की बात है। इसी की प्रतीक्षा में हम हैं। हमें भीतरी पुरुषार्थ जागृत करना है। भीतर कितनी ऊर्जा शक्ति है? इसका कोई भी मूल्यांकन हम इन छद्मस्थ आँखों से नहीं कर सकते। इसे प्रकट करने में भगवान् ऋषभनाथ लगे हुए हैं। वे सोच रहे हैं कि कोई भी प्रतिकूल अथवा अनुकूल अवस्था आ जाये, मेरे लिये सभी कुछ समान है। उनका चिन्तन चल रहा है।

बाहर यह
जो कुछ दीख रहा है
"सो" में नहीं हूँ
और वह मेरा भी नहीं है।
वे आखें
मुझे देख नहीं सकती
मुझमें देखने की शक्ति है
उसी का मैं सृष्टा हूँ
सभी का मैं दृष्टा हूँ!!